

दलित चेतना : साहित्य



दलित चेतना : साहित्य

सम्पादक
रमणिका गुप्ता

नवचेतन प्रकाशन

दिल्ली-110032

ISBN : 978-81-89006-40-2

©

रमणिका फाउण्डेशन

प्रकाशक

नवचेतन प्रकाशन

1/9668-बी, द्वितीय तल, गली नं. 6,
प्रतापपुरा, शाहदरा, दिल्ली-110032

एकमात्र वितरक

शिल्पायन

10295, लेन नं. 1, वैस्ट गोरख पार्क,
शाहदरा, दिल्ली-110032
दूरभाष : 011-22326078

मूल्य : 300.00

संस्करण : 2012

आवरण : उमेश शर्मा

शब्द-संयोजन : उमेश लेजर प्रिंटर्स, दिल्ली

मुद्रक : रुचिका प्रिंटर्स, दिल्ली

•

DALIT CHETNA : SAHITYA

Edited by Ramnika Gupta

हिन्दी के समकालीन दलित-लेखन का प्रामाणिक दस्तावेज

हिन्दी की प्रखर लेखिका श्रीमती रमणिका गुप्ता द्वारा सम्पादित दलित चेतना पर आधारित 'दलित चेतना : साहित्य' नाम का यह विशिष्ट साहित्य-संकलन अपने दशाभिमुख स्थान और तल्लू तेवर के कारण हिन्दी की समकालीन रचनाशीलता के बीच एक अलग पहचान बनायेगा। आज साहित्य, संस्कृति और कला विषयक दृष्टिकोण में जो परिवर्तन आया है, उसका सबूत इस संकलन में साफ तौर पर दिखाई पड़ता है। वस्तुतः मराठी साहित्य के समान समकालीन हिन्दी साहित्य में भी दलित-चेतना की अभिव्यक्ति हो रही है। स्वतंत्रता के बाद मराठी साहित्य में दलित-लेखन की धारा प्रखरता के साथ प्रवाहित हुई थी और उसने साहित्य के परम्परागत रसवादी रूप के सामने प्रश्न-चिह्न खड़ा कर दिया था। दलित-लेखकों ने अपने लिए एक नया सौंदर्यशास्त्र गढ़ा जो संघर्षशास्त्र का पर्याय था। दलित-लेखन में रस, अलंकार, छंद-योजना, शब्द-तालित्य आदि की कलात्मकता नहीं थी, बल्कि जीवन के खुरदरे सच को अभिव्यक्त करने की अकुलाहट और बेचैनी थी। सदियों से सामाजिक-व्यवस्था की वर्णवादी चक्की में पिसती हुई आबादी की कराह ने चीख का रूप ले लिया था और सर्द चेहरों पर सुर्ख रंग उतर आया था। पांचवें दशक के आस-पास मराठी का दलित साहित्य इसी का परिणाम था, जिसका प्रसार बाद में कन्नड़ साहित्य में भी हुआ। हिन्दी में एक विशेष अर्थ में इसकी शुरुआत सातवें दशक से होती है।

किन्तु, जहां तक साहित्य-निर्माण में दलितों के योगदान का प्रश्न है, हिन्दी साहित्य में इसकी एक लम्बी परम्परा मिलती है। आदिकाल के अधिकांश सिद्ध कवि दलित वर्ग से ही आते थे। भक्तिकाल में भी नाभादास, रैदास, कबीर आदि सन्त कवि दलित वर्ग का प्रतिनिधित्व करते थे। इनमें सबसे अधिक प्रखरता कबीर में थी। उनका साहित्य दलित क्रान्ति का शंखनाद था। उस काल के दूसरे भक्त कवियों की दलित-चेतना भक्ति के आवरण में लिपटी हुई थी, इसलिए उसका विस्फोट सामाजिक धरातल पर नहीं हो पाया। फिर द्विवेदी युग में पटना के हीरा डोम की कविता 'अछूत की शिकायत' महावीर प्रसाद द्विवेदी ने 'सरस्वती' में छपी थी। हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल में दलित-चेतना का उन्मेष इससे माना जा सकता है।

इसी तरह एक लम्बे अरसे से दलित वर्ग की सकारात्मक भूमिका हिन्दी

साहित्य के सृजन में रही। किन्तु जिस अर्थ में दलित-लेखन परिभाषित हो रहा है, उस अर्थ में उसे दलित चेतना का साहित्य नहीं कहा जा सकता। आज दलित लेखन सामाजिक न्याय की प्रखर चेतना का पर्याय है। इसकी पृष्ठभूमि में डॉ. भीम राव अम्बेदकर और ज्योति बा फूले का सामाजिक-राजनीतिक दर्शन और सांस्कृतिक मूल्य-बोध निहित है। यही कारण है कि आज के दलित लेखन में जीवन संघर्ष और विद्रोही भावना अधिक उजागर है।

यह एक प्रकट सच्चाई है कि भारतीय समाज में वर्ण-व्यवस्था की विकृतियों का सर्वाधिक शिकार दलित जातियों एवं औरतों को होना पड़ा है। हिन्दी क्षेत्रों में सामन्ती मानसिकता कुछ अधिक प्रबल रही है। इसलिए औरतों, पिछड़ों और दलितों की दशा निरन्तर शोषण के कारण हिन्दी क्षेत्रों में अधिक दयनीय है। स्वतंत्रता संग्राम के समय से ही हिन्दी-पट्टी में सामाजिक-राजनीतिक जागरूकता पैदा करने के लिये डॉ. राम मनोहर लोहिया ने अथक परिश्रम किया। इसलिए हिन्दी क्षेत्र के बौद्धिक वर्ग पर तथा सामान्य जन-मानस पर डॉ. अम्बेदकर से अधिक प्रभाव डॉ. लोहिया का पड़ा। पांचवें दशक में प्रारम्भ होने वाले नव-लेखन आन्दोलन पर लोहिया का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। हिन्दी-पट्टी में सामन्ती व्यवस्था और सवर्ण मानसिकता के खिलाफ लोहिया ने पिछड़ों, दलितों, अल्प-संख्यकों एवं औरतों को जगाया और सामाजिक न्याय की लड़ाई तेज की। इस तरह हिन्दी में दलित लेखन की जो जमीन तैयार हुई है उसमें डॉ. अम्बेदकर और डॉ. लोहिया दोनों की उल्लेखनीय भूमिका है। इसके साथ ही तीसरी दुनिया के ब्लैक लिटरेचर से सम्पर्क के कारण हिन्दी की नयी पीढ़ी की अभिव्यक्ति में पुरजोर ऊष्मा आई। भारत के दलित वर्ग की समस्याएं अफ्रीकी अश्वेत समाज से बहुत कुछ मिलती-जुलती हैं। अतः दलित लेखकों में नीग्रो-साहित्य के प्रति स्वाभाविक रुझान पैदा हुआ। इसी वैचारिक पृष्ठभूमि में आज हिन्दी का दलित-लेखन विकसित हो रहा है।

‘दलित चेतना : साहित्य’ हिन्दी के समकालीन दलित लेखन का एक प्रामाणिक दस्तावेज है। इसमें दलित चेतना पर आधारित लेख एवं साक्षात्कार एक साथ संकलित हैं, जिसमें दलित साहित्य की विभिन्न विधाओं के विश्लेषणात्मक पक्ष का विस्तृत रूप से सम्यक् बोध पाठकों को सहज रूप में हो जाता है। इस पुस्तक का सर्वाधिक महत्वपूर्ण भाग वह है जिसमें विभिन्न भारतीय भाषाओं के दलित लेखन का आकलन और मूल्यांकन किया गया है। इससे हिन्दी पाठकों का ज्ञान-वर्द्धन होगा और हिन्दी में दलित-लेखन को एक दिशा मिलेगी। दलित लेखन पर इतनी विस्तृत एवं सूचनापरक सामग्री का एक संकलन में आना अपने आप में एक प्रीतिकर अनुभव है। मेरा पूरा विश्वास है कि हिन्दी में दलित चेतना की धारा को तीव्र करने में इस संकलन की ऐतिहासिक भूमिका होगी। इस रूप में मैं इस संकलन का स्वागत करता हूँ और इसकी सम्पादक श्रीमती रमणिका गुप्ता को हार्दिक बधाई देता हूँ।

रामवचन राय

सम्पादकीय

साहित्य साहित्य है तो ये दलित या गैर दलित साहित्य क्या? क्या कभी साहित्य भी बंटता है? ऐसे जुमले अनेकों बार प्रायः सुनने में आते हैं और झेलने पड़ते हैं। अगर पीछे मुड़कर साहित्य के इतिहास में देखा जाय तो साहित्य के साथ हर युग में अलग आधारों पर विशेषण जोड़े जाते रहे हैं और उन्हीं के अनुरूप साहित्य में विभाजन होता रहा है। अब देखना यह है कि ये अलग-अलग आधार क्या रहे?

किसी भी वस्तु, रचना या कृति का प्रथम बंटवारा होता रहा है उसके प्रकार, आकार, गुणवत्ता, परिमाण, समय और स्थान के आधार पर। आकार में रचना लम्बी या छोटी का होना चिह्नित होता है तो प्रकार में उसकी विधा। प्रकार के आधार पर साहित्य को कविता, कथा, उपन्यास, निबंध, आलेख, नाटक और आजकल रिपोर्टिंग और पत्रकारिता आदि विधाओं में बांटा गया है। समय के आधार पर साहित्य पुराना (पौराणिक), मध्यकालीन और आधुनिक कहलाता है। आधुनिक काल में उसे लेखकों के समय के अनुसार भी बांटा जाता रहा है। जैसे भारतेन्दु काल, द्विवेदी काल। फिर काल के भी कई खण्ड किये जाते रहे हैं आधुनिक या उत्तर आधुनिक। भूगोल के आधार पर आंचलिक, राष्ट्रीय या अन्तर्राष्ट्रीय विशेषण सदैव आरोपित हुए हैं। गुणवत्ता के आधार पर कालजयी का विशेषण पूरे भारतीय वाङ्मय में तो प्रचलित था ही पश्चिम की कुछ रचनाओं के साथ भी इसे जोड़कर पुकारा जाता रहा है।

भारत में अंग्रेजों के आने के बाद तक भी राजा-महाराजा की प्रथा थी। राजतंत्र था। इसलिए मुगलों के समय दरबारी युग भी हुआ। जिन साहित्यकारों ने दरबारों को ठुकराया उनका साहित्य भक्ति साहित्य के नाम से जाना जाने लगा। उनका साहित्य स्वांतः-सुखाय लेखन के प्रकार में आ गया। दरबारों में चूँकि ऐश्वर्य का माहौल था, शृंगार प्रेम का बोलबाला था, इसलिए भारतीय वाङ्मय अभिजन समाज एवं शिष्ट वर्ग का साहित्य रहा। वह आनन्द को महत्व देता रहा। साहित्य को उसने रसों के आधार पर बांटा और नौ रस माने। राजा और उसके गिर्द जमे अभिजन समाज को आनन्द विभोर करने के लिए शृंगार रस का भरपूर प्रयोग हुआ। राजा या नवाब को क्षमाशील, दानवीर दिखलाना उसके गुणगान का हिस्सा था, इसलिए करुण रस का भी साहित्य

रचा गया। राजा युद्ध करते थे इसलिए उन्हें प्रेरित करने के लिए दरबारी कवि वीर-रस के साहित्य में जुटने लगे थे। युद्ध की वीभत्सता दिखाने के लिए वीभत्स रस आया। ये दोनों रस जनमानस में भय और घृणा पैदा करते थे। लेकिन इसके समानान्तर लोक साहित्य जो शिष्ट व अभिजात साहित्य के समानान्तर चलता रहता है विश्व के हर कोने में, भारत में भी अपने-अपने प्रिय राजाओं, नवाबों या सेनापतियों की वीरगाथाएं रचता रहा। जैसे आल्हा-ऊदल। इस प्रकार हम देखते हैं कि साहित्य शिष्ट और लोक-साहित्य रसों के आधार पर बांटा जाता रहा है, अन्यथा ये शृंगार-रस या वीर-रस का साहित्य क्यों कहलाता? इतना ही नहीं उस समय रस, अलंकार, रीति, वक्रोक्ति एवं ध्वनि संप्रदायों में आपसी खींचातानी इसी विभाजन का नतीजा थी। तब भी साहित्य किसी न किसी वाद से जुड़कर नामांकित होता था। इसीलिए इसे भारतीय वाङ्मय के सर्जकों और रसिक पाठकों ने केवल साहित्य ही कहना पर्याप्त नहीं समझा। अभिजनों ने भी इसे हमेशा अलग-अलग नामों से जाना था। यह शिष्ट साहित्य वही था जो विशिष्ट लोगों द्वारा विशिष्ट लोगों के लिए लिखा जाता रहा। भक्तिकाल का साहित्य सीधे राजा से विद्रोह न कर पाने के कारण धर्म की आड़ लेकर खड़ा हो गया था और वह जनता के दरबार में राजदरबारों से ऊंचा उठ गया था। चूंकि जनमानस राजा से बड़ा ईश्वर को मानता था इसलिए राजा भी साहित्यकारों को दरबार की उपेक्षा के जुर्म में दण्डित नहीं कर पाये। ये साहित्य ईश्वर के नाम पर ही आम आदमी से जुड़ गया था, हालांकि इसे लिखने वाले भारतीय समाज में आम आदमी होते हुए भी विशिष्टता का दर्जा पा गए थे। पर इन दोनों प्रकार के साहित्य में दृष्टिकोण था राजकीय या ईश्वरीय। ईश्वरीय में भक्ति, राजकीय में शृंगार, करुणा, वीरता, वीभत्सता आदि पर दृष्टिकोण की भिन्नता कहीं नजर नहीं आती। स्वयं उसका अस्तित्व या तो प्रेमी के नाते था या युद्ध में वीरता से मारे जाने के नाते। प्रेम-बलिदान, त्याग, वीरता, करुणा के ही गुण साहित्य में मुखर थे। सौन्दर्य अथवा प्रकृति इनको प्रेरित करने वाले कारक थे।

लेकिन जब राजतंत्र टूटा जनतंत्र आया, पूंजी का प्रवेश हुआ, औद्योगिक युग के कारण वैज्ञानिक सोच और विवेक का प्रचलन बढ़ा तो साहित्य भी बदला। उसका आधार राजा नहीं मनुष्य हो गया चूंकि औद्योगिक युग के केन्द्र में मनुष्य था, श्रम के रूप में राजा नहीं। पहले राजा के विपरीत दृष्टिकोण रखना खतरे से खाली नहीं था इसलिए केवल धर्म के नाम पर ही बगावत होती थी। तब मनुष्यों के दृष्टिकोण की भिन्नता का न महत्व था, न प्रश्न।

साहित्य, रहस्यवादी तो तब से ही जाना जाने लगा था जब से साहित्य ईश्वर को मनुष्य में आरोपित कर देखने लगा था। यह परम्परा उन्नीसवीं सदी के अन्त तक चली और छायावाद में आकर खत्म हुई, जिसमें मनुष्य के साथ-साथ प्रकृति भी

शामिल थी। वह भी अमूर्त शक्ति के प्रेम से आर्विभूत थी। कबीर राम की बहुरिया बने। महादेवी, पंत, प्रसाद ने भी ईश्वरीय शक्ति को कल्पना से बांधने के लिए मनुष्य को आलंबन बनाया। महादेवी जी ने छायावाद का सहारा लिया। उनका सारा प्रेम किसी शक्ति के लिए था पर आलंबन थे प्रकृति के बादल, हवा, पहाड़।

विज्ञान के विकास से ईश्वरी शक्ति की पोल खुल चुकी थी। खुली बहस शुरू हो गई थी। फलस्वरूप मनुष्य का महत्व बढ़ा। समाज में बराबरी, भाईचारा और आजादी की मांग मनुष्य की आजादी की मांग थी, जिसमें गुलामी की गुंजाइश नहीं थी। फिर ये मांग इतनी बढ़ी कि समाज में समाजवाद और साम्यवाद का दर्शन पूंजी के मुकाबिल खड़ा हो गया। सामन्ती पूंजीवादी दृष्टिकोण के ठीक विपरीत समाजवादी, साम्यवादी दृष्टिकोण आया तो साहित्य प्रगतिवादी, जनवादी नामों से उभरा। साहित्य शिष्ट साहित्य, रहस्यवादी, छायावादी, रसवादी की बजाय प्रगतिवादी-जनवादी बन गया। यानी साहित्य का ये खेमा अलग हुआ और उसका अलग नामांकन हो गया। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की धारणा के विपरीत वर्गवादी साहित्यवाद पनपने लगा था जो दो मापदण्डों वाली धारणा को नकारने लगा था, मनुष्य को अमूर्त से हटाकर मूर्त पर यानी मनुष्य पर आ टिका था। वास्तव में प्रगतिवाद-जनवाद एक तरफ उसके नये दृष्टिकोण का सर्जक और जन्मदाता भी है जिसमें मनुष्य ही नहीं बल्कि मेहनतकश मनुष्य केन्द्र बिन्दु बना, विशिष्ट नहीं। जूझता संघर्षशील आम आदमी, निजाम बदलने को कटिबद्ध मजदूर, किसान, नौजवान प्रतिष्ठित हुआ पदस्थापित हुआ। इसी शती से शुरू हुआ दृष्टिकोण का आंका जाना कूता जाना। विश्व में कैसा निजाम हो, इसी पर दो खेमों में बंट गया समाज और उसके साथ-साथ साहित्य भी।

चूँकि मनुष्य मूर्त है, यथार्थ है, अनुभवजन्य है, कल्पना नहीं इसलिए उसकी पीड़ा, उसके सपने, उसका भविष्य, उसका विकास, उसका सुख, उसका व्यवहार, साहित्य के विषय बने। चूँकि मनुष्य एक समाज का अंग है इसलिए समाज भी साहित्य का हिस्सा बना। जब समाज साहित्य का विषय बनता है तो अनुभवजन्य साहित्य पैदा होता है, चूँकि समाज मनुष्यता के विकास और विकृति का प्रतीक होता है। उसे बदलने के लिए उसके इतिहास की खोज होती है, वर्तमान की खोज होती है ताकि नया भविष्य बन सके और भविष्य के लिए होती है योजना। कोरी कल्पना नहीं। कोरी कल्पना में मात्र सपने होते हैं पर योजना ठोस यथार्थ की धरती पर टिकी होती है। बदलाव उसकी पहली शर्त होता है, यथास्थितिवाद नहीं। यह साहित्य समाज के प्रति अनुबद्ध हो जाता है, ठीक उसी प्रकार जैसे बीसवीं शती में औद्योगिक युग के बाद उपनिवेशवाद के खिलाफ साहित्य पनपा, तो गोरे-काले के भेद से उत्पन्न भेदभाव के खिलाफ नीग्रो साहित्य पैदा हुआ।

नीग्रो की पीड़ा अपने काले रंग को लेकर होती है जिसके कारण उसे कई तरह

की भेदभाव भरी, कुटिल अहंकार से भरी दृष्टियां सहनी पड़ती हैं। उसकी वेदना, कोफ्त, घुटन को एक गोरा लेखक व्यक्त नहीं कर सकता। भारत में दलितों की स्थिति में भी उसे वर्जित ही रखा गया। उनके अनुभव को तो शिष्ट साहित्यकार तो क्या आम आदमी का साहित्यकार भी नहीं जान सकता। दलितों की पीड़ा का वर्णन एक दलित ही कर सकता है जो सदियों से सर पर मैला ढोता रहा है गांव के हाशिये पर रहता रहा है मरे जानवर का मांस खाने को इस हद तक मजबूर किया जाता रहा है कि वह उसकी आदत बन जाय जिसे एक ही पेशे में रहने को अभिशप्त बना दिया जाय, जिसे अछूत बना दिया जाय जो खुद ही बच-बच के चलता रहे सवर्णों से दूर, कि कहीं वे उससे छुआ न जाएं। यह पीड़ित पक्ष आज भिड़ने की मुद्रा में है और आमने-सामने भी तो दोनों का साहित्य एक कैसे होगा? दोनों का सपना एक कैसे होगा? दोनों का हित भी एक नहीं हो सकता और ना ही दोनों का स्वार्थ एक हो सकता है। दोनों के यथार्थ अलग-अलग हैं ही, उनकी कल्पना के आयाम भी अलग-अलग हैं। एक सभ्यता की ऊंचाइयों, संस्कृति की नफासत, दर्शन की सूक्ष्मता पकड़ने की होड़ में है तो दूसरा अभी रोजी-रोटी के लिए लड़ते हुए अज्ञान के अंधेरे को काटने की मनुष्यता का दर्जा हासिल करने की फिराक में है। दोनों की सोच एक कैसे हो सकती है? जब सोच एक सी नहीं होगी तो साहित्य भी एक सा नहीं होगा।

दलित साहित्यकारों की बराबरी की लड़ाई को, मानवता के नाम पर अभिजन साहित्यकार मानव-भंजक और जातिवादी करार करते रहे हैं। उनके स्वाभिमान और आत्मसम्मान पाने के संघर्षशील साहित्य को अनगढ़, शिल्परहित व घटिया एवं बंटवारे का साहित्य कहते रहे हैं। जब कि ये साहित्य न केवल उनकी पहचान का साहित्य है बल्कि ये जातिविहीन, नए समाज और मानवतावाद का साहित्य है। दोनों के दो दृष्टिकोण हैं। ठीक उसी तरह जैसे पूंजीपति और सामन्ती वर्ग की सोच और सर्वहारा मजदूर वर्ग की सोच का अन्तर है, जैसे रोम में रोमनों की सोच और गुलाम योद्धा स्पार्टकस की सोच का अन्तर था। वही अन्तर इस सामाजिक भेद-भाव जो वर्ण और जन्म के आधार पर किया जाता है में है।

आज जब सापेक्षिक दर्शन पर आधारित सोच आम तौर से मान्य हो गई है और शाश्वत सोच की धारणा लुप्तप्राय हो गई है, चूंकि सबका सच, सबका यथार्थ, सबका हित एक-सा नहीं होता, अलग-अलग होता है, तो सबके लिए एक-सा शाश्वत साहित्य कैसे होगा? लगता है अब मानववाद की व्याख्या भी हमें नये सिरे से करनी पड़ेगी। नारी, दलित अथवा नीग्रो द्वारा मनुष्यता का हक मांगने को, अगर शिष्ट साहित्यकार मानवता का साहित्य नहीं मानते तो मानवता बचेगी कहाँ?

इसलिए आज अधिकारविहीन पक्ष का साहित्यकार यथार्थ आधारित अनुभवजन्य साहित्य अपने दृष्टिकोण से रच रहा है। उसके लिए वह अपने बिम्ब, अपने मिथक

और अपनी भाषा गढ़ रहा है। यहां तक कि अपनी विधा भी अलग से चुन रहा है। साहित्य की अभिव्यक्ति के लिए नये मिथक, नये बिम्ब, नयी भाषा जो आक्रोश को व्यक्त कर सके, नयी विधा और सौंदर्यशास्त्र भी गढ़ा जा रहा है, ताकि वह इस नयी चेतना का सक्षम वाहक बन सके। शिष्ट साहित्यकारों को इसमें आपत्ति क्यों होती है?

दरअसल शिष्ट या अभिजन साहित्य इस योग्य ही नहीं है कि वह दलित, नारी या नीग्रो के मानस में सदियों से पल रहे आक्रोश अथवा पीड़ा को वाणी दे सके। उसकी बंधी बधाई शैली में इतना व्यापक सत्य, इतना बड़ा यथार्थ और समाज को बदलने का इतना तीव्र और दृढ़ संकल्प समा ही नहीं सकता। जहां शिष्ट साहित्य के विपरीत दलित साहित्य में वस्तु प्रधान होती है, जो अनुभवजन्य होती है। अनुभव का सबसे प्रामाणिक और विश्वसनीय आधार स्वयं उसका अपना जीवन होता है इसीलिए दलित साहित्य में आत्म-कथा की विधा का सबसे बड़ा स्थान है। इन आत्म-कथा के नायक व नायिकाएं केवल अपने जीवन की नहीं बल्कि अपने पूरे समाज की बात करते हैं जो समान रूप से मनु-संहिता का शिकार हैं। इनमें वे परकाय-प्रवेश नहीं बल्कि स्वकाय-प्रवेश ही करते हैं पर उनका स्वकाय पूरे समाज का रूप हो जाता है। इस प्रकार वे सीधे समाज की ही काया में बदल जाते हैं और समाज को बदलने के प्रेरक बनते हैं। इसे परकाय-प्रवेश न कहकर समाजकाय प्रवेश कहना अधिक उचित होगा। उसकी ये आत्म-कथाएं एक व्यक्ति की न रहकर पूरे समाज से जुड़ जाती हैं। वे समाज के घात-प्रतिघातों की कथाएं हो जाती हैं। शरण कुमार लिम्बाले की 'अक्करमाशी' केवल उनकी कथा नहीं भारत के उस पूरे समाज की कथा है जो सवर्ण-समाज व्यवस्था का शिकार है।

इसीलिए यह साहित्य दलित साहित्य कहलाने का औचित्य रखता है चूंकि यह दलितों का भोगा हुआ अनुभव है जो साहित्य की किसी न किसी विधा के रूप में व्यक्त होता है। दलित साहित्य केवल पीड़ा का साहित्य नहीं है, ये उनकी मुक्ति-कामना का साहित्य भी है। इसलिए ये नीग्रो व नारी मुक्ति आन्दोलन के साहित्य की तरह बदलाव का साहित्य तो है ही, उसके साथ-साथ नये समाज के निर्माण के आह्वान का साहित्य भी है। इस साहित्य में भगवान, भाग्य, विकृत परम्परा, अन्धविश्वास के नकार के साथ-साथ वैज्ञानिक सोच और विवेक-परक, न्याय-परक व्यवस्था, समता, भाईचारा और आजादी का सपना भी है। लेकिन इस सपने के पीछे केवल कल्पना नहीं एक योजनाबद्ध संघर्ष भी है। ये विकृतियों के विनाश के साहित्य के साथ-साथ एक जातिविहीन मानवीय समाज के निर्माण को समर्पित साहित्य है। ये दलितों में स्वाभिमान और आत्मविश्वास भरकर बराबरी के दर्जे पर खड़ा करने का प्रेरक साहित्य है।

अलग-अलग समाज, समय, क्षेत्र, व्यवस्था, संस्कृति एवं दृष्टिकोणों में विभाजित

मानवता की अलग-अलग पहचान को मानवता के नाम पर जब साहित्य एक शाश्वत फार्मूला या फतवा देकर दबाने या नकारने की चेष्टा करने लगता है, तो वह साहित्य नहीं रहता धर्मशास्त्र या फतवा बन जाता है और अप्रासांगिक हो जाता है।

मुझे बड़ी प्रसन्नता है कि श्री मैनेजर पाण्डेय, एन. सिंह, कर्दम तथा विमल थोराट आदि मित्रों की सहायता से प्रस्तुत संकलन में दलित साहित्य पर सर्वांगीण रूप से प्रकाश डालने का प्रयास किया है। दलित साहित्य के प्रारंभ तथा उसके इतिहास पर माता प्रसाद जी एवं एन.सिंह जी की पारदर्शी टिप्पणियां, सी.बी. भारती की दलित साहित्य के सौंदर्यशास्त्र पर सोदाहरण बहस, पुरुषोत्तम सत्यप्रेमी का बाबा साहेब अम्बेडकर के दृष्टिकोण तथा गैर-हिन्दी दलित साहित्य का विवेचन तथा कुसुम मेघवाल की राजस्थानी दलित समाज पर शोधपरक रपट, संकलन के मुख्य आकर्षण हैं। डा. एन. सिंह ने तो कई दलित-कहानियों का सार-संक्षेप प्रस्तुत कर संकलन को और भी संग्रहणीय बना दिया है। जयप्रकाश कर्दम का समाज वैज्ञानिक विश्लेषण, एस. एल. बिरदी का पंजाबी दलित साहित्य एवं विमल थोराट का मराठी दलित साहित्य की समृद्ध परम्परा पर स्तरीय विश्लेषण प्रस्तुत संकलन के अतिरिक्त आकर्षण हैं। इस प्रस्तावना का अंश, बहरहाल मैं बी. एल. नय्यर के इस यक्ष-प्रश्न को पुनर्रिखांकित कर करना चाहूंगी कि, 'जाति-प्रथा बदल डालने की बात हिन्दी साहित्य में आज तक हाशिए पर क्यों रही?'

रमणिका गुप्ता

अनुक्रम

बातचीत

- डॉ. मैनेजर पाण्डेय से अनूप शुल्क/17
डॉ. एन. सिंह से अश्वनी कोटनाला/37
डॉ. माता प्रसाद से राजनारायण राय/43

आलेख

- हिन्दी कथा साहित्य में दलित चेतना/डॉ. एन. सिंह/51
दलित साहित्य के होने की अनिवार्यता और उसका सौन्दर्य पक्ष/बी.एल. नय्यर/61
दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र/सी. बी. भारती/66
हिन्दी दलित साहित्य रचना और विचार इतिहास एवं दिशा/रमणिका गुप्ता/78
भारतीय दलित साहित्य/डॉ. पुरुषोत्तम सत्यप्रेमी/88
साहित्य की दलित संवेदना/राधेलाल बिजधावने/99
दलित साहित्य और पंजाबी साहित्य/एस. एल. बिरदी/105
साहित्य और समाज कुछ प्रश्न/जय प्रकाश कर्दम/113
राजस्थान में दलितों की सामाजिक स्थिति/कुसुम मेघवाल/122
दलित मुक्ति आन्दोलन की संवेदनात्मक अभिव्यक्ति मराठी दलित कविता/
विमल थोरात/128

बातचीत

सुप्रसिद्ध आलोचक डॉ. मैनेजर पाण्डेय से अनूप शुक्ल की बातचीत

केवल राख ही जानती है जलने का अनुभव

(डॉ. मैनेजर पाण्डेय समकालीन हिन्दी आलोचना के सर्वाधिक महत्वपूर्ण हस्ताक्षरों में से एक हैं। हिन्दी साहित्य में अकादमिक और व्यावहारिक आलोचना को एक साथ साधने वाले अपनी पीढ़ी के आलोचकों में उनका महत्व अप्रतिम और निर्विवाद है। उन्होंने साहित्य के इतिहास लेखन की समस्याओं से लेकर मध्यकालीन भक्ति आन्दोलन तक, साहित्य के अनेक सवालों पर खुलकर विचार किया है। साहित्य के समाजशास्त्र को व्यवस्थित रूप से पहली बार हिन्दी में लाने का श्रेय उन्हें ही है। यही नहीं, संस्कृत साहित्य में उग्र जातिवाद विरोध की पुस्तक बज्रसूचि से पहली बार उन्होंने ही हिन्दी जगत को परिचित कराया।

विचार और व्यवहार से मार्क्सवादी डॉ. मैनेजर पाण्डेय की जन आन्दोलनों और जनसंघर्षों में गहरी आस्था है। यह अकारण नहीं है कि साहित्य की सामाजिक अर्थवत्ता की खोज उनके आलोचना कर्म का मूल और मुख्य उद्देश्य है।

एक सजग लेखक-आलोचक के रूप में डॉ. मैनेजर पाण्डेय लगातार अपने समय के सवालों से टकराते रहे हैं। मार्क्सवादी होने के बावजूद, भारतीय समाज के संदर्भ में वर्ण और जाति के सवाल को वह वर्ण के सवाल से कम महत्वपूर्ण नहीं मानते और उससे उपेक्षा बरतने के कारण तमाम सवर्ण मार्क्सवादियों को आड़े हाथों लेते हैं।

प्रस्तुत है दलित आन्दोलन, दलित चेतना और साहित्य से जुड़े सवालों पर डॉ. मैनेजर पाण्डेय से हुई विस्तृत बातचीत के प्रमुख अंश।) **अनूप शुक्ल**

- भारतीय समाज को समझने का मूलाधार क्या हो सकता है जाति या वर्ग? आपके विचार से दलित जाति है या दलित वर्ग है? भारतीय समाज को समझने के लिये वर्ण और वर्ग को साथ-साथ ध्यान में रखना जरूरी है। हमारे यहां जो लोग केवल वर्ग की धारणा के आधार पर भारतीय समाज की संरचना को समझने की कोशिश करते हैं, वे वर्ण और जाति की वास्तविकता की उपेक्षा करते हैं और इस प्रक्रिया में भारतीय समाज की अधूरी समझ सामने लाते हैं। लेकिन दूसरी ओर वे लोग हैं, जो केवल वर्ण के आधार पर भारतीय समाज की

संरचना की व्याख्या करते हैं। इस व्याख्या में भी भारतीय समाज की अनेक जटिलताएं छूट जाती हैं। वास्तव में वर्ग एक धारणा है और वर्ण या जाति एक वास्तविकता है। कहीं-कहीं ये दोनों एक साथ मिलते हैं और कई जगह एक दूसरे को काटते हैं। यह अधिक संभव है कि भारतीय समाज की वर्णवादी संरचना में जो दलित हैं, वे वर्ग की धारणा के अनुसार सर्वहारा भी हों और अधिकांशतः ऐसा है भी। लेकिन सामाजिक विकास की प्रक्रिया में दलित समुदाय का व्यक्ति आर्थिक दृष्टि से उच्च वर्ग में शामिल हो सकता है। यह ध्यान में रखने की बात है कि वर्ग की धारणा का आधार आर्थिक होता है, जबकि वर्ण या जाति का सम्बन्ध आर्थिक के साथ-साथ सामाजिक स्थिति से भी होता है। इसलिए जब कुछ लोग मार्क्सवाद के नाम पर भारतीय समाज की वर्णवादी संरचना की उपेक्षा करते हुए किसानों और मजदूरों की एकता की बात करते हैं, तब वे यह भूल जाते हैं कि एक सवर्ण किसान से दलित किसान की या एक सवर्ण मजदूर से दलित मजदूर की सामाजिक-सांस्कृतिक स्थिति भिन्न होती है। यह सच्चाई है कि गांवों में अधिकांश खेतिहर मजदूर दलित समुदाय के ही होते हैं। आप इस वास्तविकता को समझने के लिए एक दूसरा उदाहरण देख सकते हैं। शहरों में काम करने वाले मजदूर लगभग एक तरह का जीवन जीते हैं और एक साथ रहते भी हैं। लेकिन जब वे गांव लौटते हैं तो उनकी सामाजिक स्थिति उनकी जाति के अनुसार बन जाती है। यही नहीं, शहर में भी एक जैसी नौकरी करने वाले दो लोग, जिनमें एक ब्राह्मण हो और एक दलित, दोनों किराये का मकान खोजने निकलें तो दोनों के साथ समाज एक जैसा व्यवहार नहीं करता। इससे जाहिर है कि भारतीय समाज में अनेक स्तरों पर वर्ण या जाति की भूमिका वर्ग से अधिक प्रभावशाली है। इसलिये मैं समझता हूं कि भारतीय समाज को ठीक ढंग से समझने के लिए वर्ण और वर्ग दोनों की समझ जरूरी है।

- दलित समुदाय में आप किसे शामिल करना चाहेंगे? समस्त शोषित-उत्पीड़ित वर्ग को, जिनमें नारी से लेकर आदिवासी तक शामिल हैं या जाति व्यवस्था की बर्बरता के शिकार उस वर्ग को, जिसे गांधी जी की भाषा में हरिजन कहा जाता है?

इस प्रसंग में दलित का अर्थ स्पष्ट करना भी जरूरी है। अगर दलित का अर्थ पराधीन स्थिति में रहने वाले लोगों से है तो उसके भीतर गांधी के हरिजन, इस देश के आदिवासी और स्त्रियां सब शामिल हैं। लेकिन मैं जब दलित शब्द का प्रयोग कर रहा हूं तो मेरे ध्यान में वे हैं, जिन्हें भारतीय वर्ण व्यवस्था में शूद्र कहा जाता है या जिन्हें समाज में अछूत माना जाता है। औरतों की पराधीनता का सवाल वर्ग ही नहीं, वर्ण की सीमा को भी पार करता है क्योंकि केवल उच्च वर्ग और उच्च वर्ण की स्त्रियां ही पराधीन नहीं होतीं, दलितों की स्त्रियां भी पराधीनता और गुलामी की यातनाएं सहती हैं। यह अकारण नहीं है कि दलित समुदाय की जिन लेखिकाओं ने अपने समुदाय की

आर्थिक-सामाजिक पराधीनता के बारे में लिखा है, उन्होंने अपने समुदाय के भीतर स्त्रियों की पराधीनता और यातना पर भी ध्यान दिया है। इसके बावजूद, मैं यहां स्त्रियों को दलितों में शामिल नहीं कर रहा हूं। भारतीय समाज में स्त्रियों की पराधीनता और उनके लेखन के महत्व पर अलग से विचार करना जरूरी है। लेकिन यहां मैं केवल उन्हें दलित मान रहा हूं जो जाति से दलित हैं।

- दलित और नारी की एक जैसी शोषणमूलक स्थितियों को ध्यान में रखते हुए, दलित चेतना और नारी चेतना के बीच सम्बन्ध को आप किस रूप में देखते हैं? या इन दोनों के बीच कोई सम्बन्ध नहीं है?

यह सही है कि एक स्तर पर दलित और नारी की स्थिति एक जैसी है क्योंकि दोनों पराधीनता के शिकार हैं। यह अकारण नहीं है कि भारत की वैदिक, पौराणिक परम्परा के रक्षक शास्त्रकारों और कवियों तक ने शूद्र और नारी को एक साथ रखा है। इसलिए जब व्यापक रूप में भारतीय समाज की संरचना में दमन और उत्पीड़न के शिकार जनसमुदाय की बात की जाती है तो दलितों और स्त्रियों को एक साथ रखा जाता है। लेकिन हाल के वर्षों में नारी मुक्ति का जो आन्दोलन चला है और उससे नारी चेतना का जो रूप विकसित हुआ है, वह स्त्रियों के साथ दलितों को रखने या नारी चेतना और दलित चेतना को एक मानने का विरोध करता है। इस विरोध का एक कारण यह भी है कि दलित समाज की स्त्री भी स्त्री होने के कारण पराधीनता की यातना सहती है, इसलिए वह दूसरे समुदायों की स्त्रियों की मुक्ति की चेतना के साथ अपनी एकता पर जोर देती है।

सच बात तो यह है कि भारतीय समाज में गुलामी की एक सर्वग्रासी व्यापक प्रक्रिया है, जिसके शिकार दलित और स्त्री दोनों हैं। लेकिन इस प्रक्रिया के भीतर भी अनेक चक्र हैं और उन चक्रों की अपनी विशिष्टताएं हैं। इसलिए जैसे दलितों पर विचार करते समय वर्ग और वर्ण को एक मान लेने से कई तरह की वैचारिक उलझनें पैदा होती हैं, उसी तरह दलितों और स्त्रियों को गुलामी के एक ही चक्र के भीतर रखकर समझने से भी अनेक प्रकार की उलझनें सामने आती हैं।

- दलित साहित्य की अवधारणा क्या है? क्या केवल दलितों के द्वारा लिखा गया साहित्य दलित साहित्य है या दलितों के बारे में लिखा गया वह साहित्य भी दलित साहित्य है, जिसे गैर-दलितों ने लिखा है, जैसे प्रेमचन्द?

दलित साहित्य धारणा के, जैसा आपने कहा, दो पक्ष हैं। एक तो यह कि दलितों के बारे में लिखा गया साहित्य दलित साहित्य है, उसके लेखक चाहे दलित हों या गैर-दलित। दूसरा पक्ष यह है कि दलितों का अपने बारे में लिखा साहित्य ही दलित साहित्य है।

भारतीय समाज, संस्कृति और इतिहास जिस रूप में चलता रहा है, उसमें जब

दलितों को पढ़ने-लिखने की ही सुविधा नहीं थी, तो वे अपने बारे में साहित्य कहां से लिखते? इसलिए दलित साहित्य के रूप में अधिकांशतः वही साहित्य मिलता है, जो दलितों के बारे में गैर-दलितों ने लिखा है। इस साहित्य में बहुत कुछ ऐसा भी है जो काफी दूर तक दलित जीवन की वास्तविकताओं और अनुभवों को गहरी सहानुभूति के साथ व्यक्त करता है। उदाहरण के लिए प्रेमचन्द और निराला की जीवन से जुड़ी रचनाओं को देखा जा सकता है। लेकिन सारी सहानुभूति, करुणा, सहृदयता और परकाय प्रवेश की कला के बावजूद गैर-दलितों द्वारा दलितों के बारे में लिखे गए साहित्य में कला चाहे जितनी हो, परन्तु अनुभव की वह प्रामाणिकता नहीं होती, जो किसी दलित द्वारा अपने समुदाय के बारे में स्वानुभूति की पुनर्रचना से उपजे साहित्य में होती है।

मुझे लगता है कि जब तक अपने बारे में लिखे हुए दलितों के साहित्य का पर्याप्त विकास नहीं होता, तब तक गैर-दलितों द्वारा दलितों के बारे में लिखे गए साहित्य को भी भले ही दलित साहित्य कहा जाय, लेकिन सच्चा दलित साहित्य वही होगा, जो दलितों के बारे में स्वयं दलित लिखेंगे। जब अपने समुदाय के जीवन के यथार्थ और अनुभवों के बारे में कोई दलित लिखता है, तब उसकी दृष्टि में जो आग, चित्रों में जो आभा और भाषा में जो ऊर्जा होती है, वह गैर-दलितों द्वारा दलितों के बारे में लिखे गए साहित्य में नहीं होती। दलित जीवन के अनुभव के कुछ ऐसे पक्ष होते हैं, जो जाति सापेक्ष हैं और केवल उन्हीं के द्वारा अनुभूत किए जा सकते हैं। ऐसे अनुभवों का प्रामाणिक चित्रण कोई गैर-दलित लेखक वैसे ही नहीं कर सकता, जैसे स्त्री जीवन के अनेक स्त्रियोचित अनुभवों की अभिव्यक्ति के प्रसंग में ज्योतिबा फूले का यह कथन अत्यन्त महत्वपूर्ण है, कि गुलामी की यातना को 'जो सहता है वही जानता है' और जो जानता है वही पूरा सच कह सकता है। सचमुच राख ही जानती है जलने का अनुभव, कोई और नहीं।

● क्या प्रामाणिक दलित चेतना की अभिव्यक्ति केवल दलित ही कर सकते हैं? यदि यह मान लिया जाय कि साहित्य के जनतंत्र में दलितों का प्रतिनिधित्व केवल दलित कर सकते हैं, तो क्या यह एक गलत परम्परा का विकास नहीं होगा? कुछ लोगों का कहना है कि जैसे लोकतंत्र में प्रतिनिधित्व की प्रक्रिया चलती है, वैसे ही साहित्य में भी वह लागू होती है। तात्पर्य यह है कि अगर संसदीय लोकतंत्र में एक व्यक्ति अनेक वर्गों और अनेक जातियों की जनता का प्रतिनिधि हो सकता है, तो साहित्य में दलितों का प्रतिनिधित्व कोई गैर-दलित क्यों नहीं कर सकता? इस तर्क पद्धति से दलित साहित्य वही नहीं है, जो दलितों के द्वारा लिखा गया हो, बल्कि वह भी है, जो दलितों के बारे में गैर-दलित रचनाकार लिखते हैं। ऊपर से यह बात सही लगती है, लेकिन अगर संसदीय लोकतंत्र में प्रतिनिधि होने और बनने की प्रचलित

पद्धति को ध्यान में रखें तो इस तर्क में निहित चालाकी भी सामने आ जाती है। आजकल संसदीय लोकतंत्र में जैसे जनता के झूठे प्रतिनिधि होते हैं, वैसे ही साहित्य में दलितों के प्रतिनिधि बनने के झूठे दावेदार हो सकते हैं। वास्तव में कौन-सा साहित्य दलित साहित्य है और कौन-सा नहीं, यह तय करने का अधिकार दलित पाठकों का है। उच्च वर्ग के लोग हजारों वर्षों की साहित्यशास्त्रीय या सौन्दर्यशास्त्रीय परम्परा के आधार पर यह भले ही तय करते रहें कि कौन-सा साहित्य साहित्य है और कौन-सा नहीं? लेकिन कौन-सा साहित्य दलित साहित्य है, यह साहित्यशास्त्र या काव्यशास्त्र के पुराने प्रतिमानों के आधार पर निश्चित नहीं हो सकता। साहित्य सम्बन्धी निर्णय और पसन्द के पीछे भी पाठक की अपनी वर्ग और वर्ण से जुड़ी विचारधारा काम करती है। ऐसी स्थिति में दलित साहित्य के स्वरूप की चिन्ता को विचारधारा और राजनीति से स्वतंत्र नहीं माना जा सकता।

● भारतीय भाषाओं में दलित चेतना की अभिव्यक्ति सबसे पहले किस भाषा के साहित्य में हुई? उसके क्या कारण थे?

सबसे पहले तो दलित साहित्य और दलित चेतना के साहित्य में अन्तर करने की जरूरत है। यह जरूरी नहीं कि दलित जीवन से जुड़ी हर रचना में दलित चेतना की अभिव्यक्ति भी हो। तात्पर्य यह है कि एक ऐसा साहित्य हो सकता है, जिसमें दलित जीवन का चित्रण-वर्णन तो हो, लेकिन दलित चेतना की अभिव्यक्ति न हो। जिस साहित्य में दलितों की सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक आकांक्षा के अनुरूप समाज के परिवर्तन की मांग और जरूरत की अभिव्यक्ति होगी, उसी को दलित चेतना का साहित्य कहेंगे। जैसे प्रत्येक मजदूर जन्मजात वर्ग चेतन नहीं होता, वैसे ही प्रत्येक दलित जन्मजात दलित चेतना से सम्पन्न नहीं होता। उसके जीवन में दलित चेतना के विकास की स्थितियां रहती हैं, लेकिन उस चेतना के विकास के लिये, उसके मन में अपने समुदाय की सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक आकांक्षाओं तथा विचारधारा का विकास, दलित आन्दोलन से जुड़कर होता है।

आन्दोलन से पैदा होने वाली ऐसी चेतना दलित समाज में सबसे पहले महाराष्ट्र में जागी। वहां 19वीं सदी में ज्योतिबा फुले ने शूद्र, अतिशूद्रों तथा स्त्रियों की गुलामी के विरुद्ध जीवन भर वैचारिक और व्यावहारिक संघर्ष चलाया। उन्होंने 1873 ई में 'गुलामगिरी' नामक पुस्तक लिखी थी, जिसे दलित आन्दोलन का घोषणापत्र और बुनियादी दस्तावेज कहा जाता है। महात्मा फुले के वैचारिक अभियान की एक विशेषता यह भी है कि उन्होंने भारतीय समाज और संस्कृति की, इतिहास की दलितों की दृष्टि से व्याख्या की और हिन्दू समाज की संरचना में दलितों की पराधीन स्थिति का विस्तृत विश्लेषण करते हुए दलित समुदाय में जागरण और विद्रोह की चेतना पैदा की। उन्होंने दलितों और स्त्रियों की शिक्षा के लिए स्कूल खोला, जिसमें उनकी पत्नी

सावित्री बाई अध्यापिका बनीं। यह एक तरह से युगों से शिक्षा और ज्ञान से वंचित दलितों तथा स्त्रियों को शिक्षित करते हुए, उन्हें मानसिक गुलामी से मुक्ति की प्रेरणा देने का काम था। महात्मा फुले ने 1848 ई में पुणे के आसपास कई स्कूल खोले। सन् 1851 ई. में उन्होंने दलित कन्याओं के लिए एक स्कूल खोला, जिसमें ज्योतिबा और उनकी पत्नी सावित्री बाई फुले दोनों पढ़ाते थे।

ज्योतिबा फुले ने 1851 ई में दलित कन्याओं के लिए जो स्कूल खोला था, उसी में पढ़ी हुई मुक्ता बाई ने 1855 ई. में 'महारों और मातंगों का दुख' नामक एक लेख लिखा था, जो 'ज्ञानोदय' नाम की पत्रिका में छपा था। उस लेख में महाराष्ट्र के दलित समुदाय की गरीबी, बेबसी और यातना की दर्दनाक स्थितियों की मार्मिक अभिव्यक्ति है। वह लेख ब्राह्मण समुदाय के प्रति गुस्सा और नफरत से उबलती हुई एक दलित युवती की चीत्कार की तरह है। इस लेख को मराठी में दलित चेतना की अभिव्यक्ति की पहली रचना कहा जा सकता है।

बीसवीं सदी में महाराष्ट्र में फुले के क्रान्तिकारी विचारों और कामों को एक व्यापक सामाजिक और राजनीतिक आन्दोलन के रूप में भीमराव अम्बेडकर ने आगे बढ़ाया। अम्बेडकर के सामाजिक और राजनीतिक आंदोलन से ही मराठी में दलित साहित्य निर्माण और दलित चेतना के विकास का आन्दोलन सबसे पहले पैदा हुआ। मराठी में दलित साहित्य का आन्दोलन केवल साहित्यिक आन्दोलन नहीं रहा है, वह व्यापक सांस्कृतिक आन्दोलन था। साहित्य के अलावा उसमें दलित रंगमंच का भी विकास हुआ है। वह दलित समुदाय की अस्मिता की पहचान, उसकी सामाजिक और राजनीतिक आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति का अभियान और इन सबकी साहित्य में अभिव्यक्ति का आन्दोलन है। मराठी के दलित आंदोलन का प्रेरणास्रोत अमेरिका के अश्वेतों का आंदोलन भी है। मराठी के दलित आन्दोलन के दौरान साहित्य के विभिन्न रूपों में दलित चेतना की केवल अभिव्यक्ति ही नहीं हुई है, बल्कि मराठी में प्रचलित पुराने काव्यशास्त्र, साहित्यशास्त्र और सौन्दर्यशास्त्र के समानांतर एक नए सौन्दर्यशास्त्र के विकास का प्रयास भी हुआ है, जिसे प्रतिरोध का सौन्दर्यशास्त्र कहा जा सकता है।

मराठी के बाद गुजराती में दलित चेतना की अभिव्यक्ति का साहित्य विकसित हुआ है। इसके अलावा कन्नड़, तेलुगू, मलयालम और तमिल में भी दलित आंदोलन के साथ-साथ साहित्य का प्रसार हुआ है।

● मराठी के दलित साहित्य के आंदोलन से पूर्व भारतीय भाषाओं के आधुनिक साहित्य में दलित चेतना की क्या स्थिति थी?

मराठी के दलित साहित्य के आंदोलन के पहले दलित चेतना की अभिव्यक्ति का साहित्य बहुत अधिक नहीं मिलता। अनेक भारतीय भाषाओं और मराठी में 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध और बीसवीं सदी के आरम्भिक दो-तीन दशकों में छिटपुट रूप में

दलित जीवन से जुड़ा हुआ साहित्य मिल सकता है। हिन्दी की पत्रिका 'सरस्वती' में दलितों की गरीबी और यातना के प्रति करुणा और सहानुभूति के भाव से लिखी अनेक रचनाएं छपी हैं। लेकिन अगर दलित चेतना की रचना की बात करनी हो, तो मेरी जानकारी में सबसे पुरानी रचना हीरा डोम की है, जो सितम्बर, 1914 की 'सरस्वती' में छपी थी। यह कविता हिन्दी में नहीं, भोजपुरी में है। हीरा डोम की कविता में विद्रोह का भाव तो नहीं है, लेकिन वर्ण व्यवस्था के भीतर दलितों के शोषण, दमन और उत्पीड़न की चेतना जरूर है। दलित आन्दोलन के पहले भारत की अन्य भाषाओं में भी दलित जीवन की दुर्दशा की अभिव्यक्ति करने वाली रचनाएं मिलती हैं। इस प्रसंग में उड़िया के कथाकार फकीर मोहन सेनापति को याद किया जा सकता है, जो 19वीं सदी के अन्त और बीसवीं सदी के आरम्भिक दो दशकों के लेखक हैं। दलित जीवन से जुड़ी हुई कुछ रचनाएं रवीन्द्र और शरत के साहित्य में भी मौजूद हैं।

- कुछ समय पूर्व आपने 'हंस' में प्रकाशित अपने लेख 'क्या आपने वज्रसूची का नाम सुना है' के जरिए अश्वघोष की कृति 'वज्रसूची' से हिन्दी जगत को परिचित कराया, जो उग्र जातिवाद विरोध की पुस्तक है। सवाल यह है कि संस्कृत साहित्य और आगे चलकर भारतीय साहित्य में वज्रसूची की परम्परा लुप्त क्यों हो गई? वाल्मीकि को आदिकवि कहा जाता है और यह भी कहा जाता है कि वाल्मीकि दलित जाति के थे। इससे यह लगता है कि संस्कृत में काव्य रचना की शुरुआत एक दलित कवि ने की। लेकिन वाल्मीकि रामायण में दलितों के प्रति कोई सहानुभूति नहीं मिलती। इसके ठीक विपरीत उसमें भारतीय समाज की जाति व्यवस्था का विरोध करने वाले गौतम बुद्ध की निन्दा है और शंबूक नाम शूद्र तपस्वी की हत्या का प्रसंग भी है। मुझे तो कभी-कभी संदेह होता है कि क्या वाल्मीकि सचमुच दलित समुदाय के थे? यह भी संभव है कि पंडित समुदाय ने क्षेपक की कला का उपयोग करते हुए वाल्मीकि रामायण को वर्णव्यवस्था के अनुकूल बना लिया हो। जो भी हो, वाल्मीकि रामायण का जो रूप अब मिलता है, उसमें दलित समुदाय के पक्ष की कोई बात नहीं है। भारतीय साहित्य के दूसरे गौरव ग्रन्थ 'महाभारत' में कई जगह जाति व्यवस्था की आलोचना है, जिनमें से कुछ का उल्लेख वज्रसूची में है। बाद के संस्कृत साहित्य की वैदिक-पौराणिक परम्परा में वर्ण व्यवस्था के विरोध का कोई विशेष स्वर नहीं सुनाई देता।

संस्कृत साहित्य की उस परम्परा में जाति-प्रथा की जगह-जगह आलोचना जरूर मिलती है, जिसकी शुरुआत अश्वघोष की वज्रसूची से होती है। बौद्ध धर्म-दर्शन वर्ण व्यवस्था का विरोधी रहा है, इसलिए उससे जुड़े हुए कवियों और लेखकों की रचनाओं में जाति व्यवस्था का विरोध है और दलितों की दर्दनाक सामाजिक दशा का चित्रण

भी। ऐसे कवियों में धर्मकीर्ति का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। लेकिन इस परम्परा की अधिकांश रचनाएं इस देश से गायब हो गई हैं या कर दी गई हैं, इसलिए दलितों के जीवन से जुड़ा साहित्य संस्कृत में उपलब्ध नहीं होता।

संस्कृत में दलित जीवन से जुड़े साहित्य के न होने का महत्वपूर्ण कारण यह भी है कि शूद्रों को अब देववाणी संस्कृत पढ़ने की ही छूट नहीं थी, तब वे उसमें अपने जीवन के बारे में साहित्य कैसे रच सकते थे? इस बन्धन को तोड़कर अगर किसी शूद्र ने देववाणी सीखने और उसमें काव्य रचने की कोशिश भी की होगी, तो उसकी रचना की वही गति हुई है, जो मातंग की कविता की हुई है। कल्हण ने 'राजतरंगिणी' में मातंग नाम के एक शूद्र कवि की चर्चा की है और यह भी लिखा है कि वह हर्ष की सभा में बाणभट्ट की तरह स्थान का अधिकारी था। कल्हण कहते हैं

अहं प्रभावो बाणदेवा यं मातंग दिवाकरः

शूद्रोऽपि बाण मयूर सम हर्षस्य सभा मध्ये शोभते।

जो मातंग बाणभट्ट और मयूरभट्ट के समान महत्वपूर्ण कवि था, उसकी कोई भी रचना अब प्राप्त नहीं होती। कल्हण के कथन में 'शूद्रोऽपि' ध्यान देने लायक है। जाहिर है कि मातंग नामक शूद्र कवि की कविता संस्कृत साहित्य के इतिहास से अपने आप गायब नहीं हुई होगी।

देववाणी संस्कृत केवल एक भाषा नहीं रही है। वह एक विशेष प्रकार की संस्कृति, विचारधारा और ज्ञान की सत्ता की प्रतिनिधि रही है : इसलिए भारतीय समाज के दलित और पराधीन जन को संस्कृत के दायरे से बाहर रखा गया। केवल शूद्र ही नहीं, स्त्रियां भी संस्कृत की इस शुद्धता और वर्जना की प्रवृत्ति की शिकार रहीं। इसका एक प्रमाण यह है कि संस्कृत नाटकों में शूद्रों और स्त्रियों को संस्कृत में संवाद बोलने की स्वतंत्रता नहीं थी। नाटक जीवन के साथ और समानांतर पहले वाला साहित्य रूप है। लोकतांत्रिकता उसकी संरचना में मौजूद रहती है। भरतमुनि ने ज्ञान के क्षेत्र में लोकतंत्र लाने के उद्देश्य से ही नाट्य विधा की रचना की। लेकिन बाद के दिनों में संस्कृत की शुद्धता और वर्जना की प्रवृत्ति ने नाटक में भाषा के स्तर पर शूद्रों और स्त्रियों को हीन स्थिति में रख दिया। नाटक में शूद्रों और स्त्रियों की यह भाषिक स्थिति उनकी सामाजिक स्थिति का प्रतिबिम्ब ही है।

● मध्यकालीन भक्ति आन्दोलन मूलतः निम्न जातियों के संतों-कवियों द्वारा चलाया गया था और जातिवाद विरोध उसका मुख्य स्वर था मुक्तिबोध की इस स्थापना के आधार पर क्या मध्यकालीन भक्ति साहित्य में दलित चेतना के तत्व ढूँढ़े जा सकते हैं?

मुक्तिबोध की यह मान्यता सही है कि भक्ति आंदोलन का मूल स्वर जातिवाद विरोधी है और उस आन्दोलन के आरम्भ का श्रेय निम्न जातियों से आए संतों और भक्तों

को है। हिन्दी क्षेत्र में जातिवाद के विरोध का स्वर भक्ति आन्दोलन से भी कुछ पीछे से मिलता है। बौद्ध परम्परा के सिद्धों ने ब्राह्मणवाद, धार्मिक पाखण्ड, सम्प्रदाय, जातिप्रथा आदि के विरोध का स्वर बुलन्द किया, जिसकी प्रतिध्वनि नाथ सम्प्रदाय के कवियों की रचनाओं में भी मिलती है। सिद्ध कवि सरहपा की रचनाओं से कबीर की कविता की तुलना कीजिए तो कबीर सरहपा के सच्चे उत्तराधिकारी साबित होंगे।

भक्ति आन्दोलन में पहली बार भारतीय समाज के उत्पीड़न और पराधीन जनसमुदाय को आत्माभिव्यक्ति का अवसर मिला। इस आंदोलन के दौरान, एक ओर बड़ी संख्या में छोटी जातियों में पैदा हुए कवि सामने आए तो दूसरी ओर स्त्रियों ने वर्जनाओं को तोड़कर आत्माभिव्यक्ति की प्रभावशाली कोशिश की। भक्ति आन्दोलन में रविदास, चोखामेला, तुकाराम जैसे कवियों ने अपनी रचनाओं में दलित समुदाय की आकांक्षा को वाणी दी। इसलिए उनकी कविता में मुक्ति की चिन्ता का जितना सम्बन्ध आध्यात्म से है, उतना ही समाज से भी है। दलित समुदाय से आए इन कवियों की रचनाओं में यद्यपि प्रार्थना का स्वर प्रधान है, लेकिन उसके साथ ही जाति व्यवस्था को तोड़ने का अनुरोध और आग्रह भी है। इसलिए यह मानना गलत नहीं है कि भक्ति आन्दोलन के इन कवियों ने आधुनिक अर्थ में दलित चेतना की अभिव्यक्ति भले न की हो, लेकिन उन्होंने भारतीय समाज और संस्कृति में पहले से बेजुबान दलित जनसमुदाय की आवाज के लिए जगह बनाई और बाद के दिनों में दलित चेतना की अभिव्यक्ति के लिए जरूरी परम्परा और राह का निर्माण किया। यही कारण है कि आज मराठी के अनेक महत्वपूर्ण कवि तुकाराम की रचनाशीलता के सूत्र और स्रोत खोजते हैं।

● हिन्दी नवजागरण में दलित चेतना की क्या स्थिति थी? नवजागरण से जुड़े किन लोगों ने इस पर ज्यादा ध्यान दिया?

दलितों के सवालों को ध्यान में रखकर हिन्दी नवजागरण पर विचार कीजिए, तो हिन्दी नवजागरण की सीमाएं सामने आती हैं। हिन्दी नवजागरण के मुख्य व्याख्याकार डॉ. रामविलास शर्मा ने उसे साहित्य का नवजागरण बना दिया है, जबकि नवजागरण एक व्यापक राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक प्रक्रिया है। भारत के दूसरे क्षेत्रों के नवजागरण के अग्रदूत वे हैं, जो सामाजिक-सांस्कृतिक सुधार तथा परिवर्तन के अभियान के नेता हैं। वे चाहे बंगाल के राजा राममोहन राय, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर जैसे लोग हों या महाराष्ट्र के महात्मा फुले, महादेव गोविन्द रानाडे, पंडिता रमाबाई और अम्बेडकर जैसे व्यक्ति हों। लेकिन हिन्दी में नवजागरण के नायक कवि और लेखक हैं, जैसे कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, महावीर प्रसाद द्विवेदी, रामचन्द्र शुक्ल और निराला आदि।

हिन्दी क्षेत्र के नवजागरण में एक-दो अपवादों को छोड़कर न दलितों की दुर्दशा

की विशेष चिन्ता है और न जाति प्रथा के विरुद्ध वैचारिक संघर्ष का कोई प्रयास। इस क्षेत्र में दलितों के उत्थान और जातिप्रथा को तोड़ने के लिए समाज सुधार का कोई बड़ा आन्दोलन भी नहीं चला। दयानन्द सरस्वती और उनके आर्य समाज ने यद्यपि जातिभेद का विरोध किया, लेकिन वर्ण व्यवस्था को वैदिक परम्परा की देन मानकर उसे बनाए रखने की कोशिश की। हिन्दी नवजागरण का तथाकथित बुद्धिवाद जातिप्रथा जैसी खूंखार, शोषक और दमनकारी सामाजिक व्यवस्था का सामना करने से बचता रहा है। यही नहीं, हिन्दी नवजागरण की प्रगतिशीलता, जातिप्रथा के सामने कुंठित नजर आती है। सच बात तो यह है कि हिन्दी नवजागरण के अनेक अग्रदूत घुमा-फिराकर जाति व्यवस्था का समर्थन ही करते हैं। यह अकारण नहीं है कि हिन्दी नवजागरण के काल में अधिकांश सवर्ण जातियों के नाम से पत्रिकाएं निकलती रहीं।

हिन्दी नवजागरण के निर्माताओं में प्रेमचन्द, निराला और राहुल सांकृत्यायन ही ऐसे व्यक्ति हैं, जिन्होंने अपने लेखन और चिन्तन में हिन्दी क्षेत्र की दलित समस्या से टकराने की कोशिश की है। हिन्दी नवजागरण का सबसे महत्वपूर्ण पक्ष स्वाधीनता की चेतना है। उस स्वाधीनता की चेतना से जहां दलितों का सवाल जुड़ा है, वहीं हिन्दी नवजागरण की प्रगतिशीलता सचमुच सक्रिय दिखाई देती है क्योंकि वहां साम्राज्यवाद विरोध से सामन्तवाद का विरोध जुड़ा हुआ है। यह बात प्रेमचन्द के लेखन में मिलती है। उनकी रचनाओं में भी और वैचारिक लेखन में भी। प्रेमचन्द ने एक जगह लिखा है कि हमारा स्वराज केवल विदेशी जुए से अपने को मुक्त करने मात्र से नहीं, बल्कि सामाजिक जुए पाखण्डी जुए से भी, जो विदेशी शासन से अधिक घातक है, मुक्त होने पर ही संभव होगा। प्रेमचन्द वर्ण व्यवस्था और जातिप्रथा के अंत को भारतीय राष्ट्रीयता की पहली शर्त मानते थे। उन्होंने लिखा भी है कि राष्ट्रीयता की पहली शर्त वर्ण-व्यवस्था, ऊंच-नीच के भेद और धार्मिक पाखण्ड की जड़ खोदना है। राष्ट्रीयता की ऐसी चेतना और धारणा उस समय के किसी अन्य हिन्दी लेखक में शायद ही मिले। प्रेमचन्द की यह राजनीतिक और सामाजिक चेतना उनकी कहानियों और उपन्यासों में अत्यन्त प्रभावशाली रूप में व्यक्त हुई है। 'ठाकुर का कुंआ', 'सद्गति', 'दूध का दाम', 'मंत्र' जैसी कहानियों में हिन्दू समाज व्यवस्था के भीतर दलितों की दयनीय और दर्दनाक दशा का चित्रण है, तो 'गोदान' जैसे उपन्यास में अपने अधिकार और सम्मान के लिए दलितों के महत्वपूर्ण संघर्ष का वर्णन है। चेखव की प्रसिद्ध 'कहानी वार्ड न. 6' को पढ़कर लेनिन ने कहा था कि उस समय का सारा रूसी समाज वार्ड न. 6 लगता है। प्रेमचन्द की कहानी 'ठाकुर का कुंआ' को सावधानी से पढ़ने वाला प्रत्येक पाठक यह अनुभव करता है कि पूरा सवर्ण हिन्दू समाज ही ठाकुर का कुंआ है, जिसके पास दलितों को जाने तक की स्वतंत्रता नहीं है। यही कारण है कि मराठी के दलित लेखक प्रेमचंद का बहुत सम्मान करते हैं। निराला की 'चतुरी चमार',

‘बिल्लेसुर बकरिहा’ जैसी रचनाओं में भी दलित समुदाय की स्थिति और उसकी यातना की गहरी सहानुभूति के साथ अभिव्यक्ति हुई है।

प्रेमचन्द के बाद हिन्दी के लेखकों में दलितों के सवाल को गंभीरता से समझने की कोशिश राहुल सांकृत्यायन ने की है। उन्होंने ‘भागो नहीं, दुनिया बदलो’ और ‘तुम्हारी क्षय हिन्दू’ आदि रचनाओं में जाति व्यवस्था को भारतीय समाज की जड़ता और समाज की अमानवीयता का प्रमाण मानते हुए उसकी निन्दा की है और उसके अन्त को भारतीय समाज के विकास की पहली शर्त माना है। राहुल के चिन्तन और लेखन में जाति व्यवस्था के उग्र विरोध की चेतना बौद्ध परम्परा से आई है। उन्होंने ‘वोल्गा से गंगा’ की प्रसिद्ध कहानी ‘प्रभा’ में अश्वघोष के माध्यम से जातिप्रथा की दमनकारी रूढ़ियों की विस्तृत आलोचना की है। राहुल जी हिन्दी नवजागरण के केवल विचारक ही नहीं थे, उसके सक्रिय आन्दोलनकारी कार्यकर्ता भी थे। उन्होंने जातिप्रथा के विरुद्ध केवल लिखा ही नहीं आन्दोलन भी चलाया था। उनकी जातिप्रथा के विरोध में लिखी अनेक पुस्तकें उसी आन्दोलन की देन हैं।

- दलित चेतना ने स्वतंत्रता के बाद हिन्दी साहित्य को कहां तक प्रभावित किया है? हिन्दी में दलित चेतना की विभिन्न रूपों में जो अभिव्यक्ति हुई है, चाहे वह दलितों ने की हो या गैर-दलितों ने, क्या उसके आधार पर हिन्दी साहित्य की एक धारा को दलित साहित्य के रूप में परिभाषित किया जा सकता है?

देखिए, स्वाधीनता के पहले और बाद में भी हिन्दी क्षेत्र में राजनीतिक, सामाजिक या सांस्कृतिक स्तर पर कोई दलित आन्दोलन नहीं चला, इसलिए दलित चेतना का व्यवस्थित विकास भी नहीं हुआ है। ऐसी स्थिति में स्वाधीनता-बाद के हिन्दी साहित्य में दलित चेतना के प्रभाव की खोज करना मुझे नहीं नहीं लगता। यह कहा जा सकता है कि स्वाधीनता-बाद के हिन्दी साहित्य को दलित समस्या ने जरूर प्रभावित किया है। मैं जानबूझकर दलित चेतना और दलित समस्या में अन्तर कर रहा हूँ क्योंकि जहां दलित चेतना का आन्दोलन के माध्यम से विकास नहीं हुआ है, वहां भी समाज के एक बहुत बड़े हिस्से के रूप में दलितों की उपस्थिति और उनके जीवन की स्थितियां अपने समय और समाज की समस्याओं के बारे में सजग तथा संवेदनशील रचनाकारों को प्रभावित करती ही हैं। हिन्दी में स्वाधीनता के बाद जिन लेखकों ने दलित जीवन की समस्याओं के बारे में लिखा है, उन्होंने अपने समाज की एक ज्वलंत समस्या के बारे में अपनी सजगता का प्रमाण दिया है, लेकिन उन्होंने किसी दलित आन्दोलन और चेतना से प्रभावित होकर लिखा हो, ऐसा मुझे नहीं लगता। स्वाधीनता के बाद दलित जीवन पर लिखने वाले लोगों में अमृतलाल नागर (नाच्यौ बहुत गोपाल), शैलेश मटियानी (गोपुली गफूरन व नागवल्लरी), जगदीश चन्द्र (धरती धन न अपना) और गोपाल उपाध्याय (एक टुकड़ा इतिहास) आदि मुख्य हैं। इसके साथ दलित समस्या पर

लिखने वाले कुछ ऐसे लेखक भी हैं, जो अपने समय की हवा में तैरती हुई हर समस्या पर कुछ-न-कुछ लिखना जरूरी समझते हैं।

हिन्दी क्षेत्र में दलितों की सामूहिक हत्या और उनको जिन्दा जलाने की घटनाएं बार-बार होती हैं। ऐसी ही एक घटना बिहार के बेलछी नामक गांव में घटी थी, जिससे दलित जीवन से जुड़ी हुई दो रचनाएं सामने आईं। उनमें एक है मन्नु भण्डारी का उपन्यास 'महाभोज', उसमें हरिजनों के जीवन और मृत्यु के राजनीतिक दुरुपयोग की चिन्ता मुख्य है। नागार्जुन की कविता 'हरिजन गाथा' अनेक कारणों से हिन्दी में स्वाधीनता के बाद दलित जीवन पर लिखे साहित्य में सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। उसमें सवर्ण समुदाय की दरिद्री, दलितों की लाचारी और भारतीय राजसत्ता की मक्कारी की अभिव्यक्ति है और साथ ही दलितों के सामाजिक विद्रोह की संभावना के संकेत भी। इसलिए यह कविता चेतना के विकास की झलक देती है।

हिन्दी में दलित के जीवन पर उपन्यास और कविता लिखने वाले ये सभी गैर-दलित हैं। उन्होंने अपने वर्ग और वर्ण के संस्कारों से मुक्त होकर ही दलित जीवन पर लिखा है। फिर भी उनके लेखन में अनजाने ही सही सवर्ण संस्कार की छाया आ गई हो तो इसमें आश्चर्य की बात नहीं है क्योंकि जिस परम्परा और प्रक्रिया में उनकी चेतना का विकास हुआ है, उसके प्रभाव से मुक्त होना सरल कार्य नहीं है। नागर जी के उपन्यास में सवर्ण संस्कार हनुमानजी की मूर्ति के सामने प्रकट होते हैं। इस संस्कार की छाया कहीं-कहीं गोपाल उपाध्याय के उपन्यास 'एक टुकड़ा इतिहास' में भी है। अगर हम किसी हरिजन पाठक को ही प्रमाण मानें, तो नागार्जुन की कविता 'हरिजन गाथा' में वहां सवर्ण संस्कार की छाया आती है, जहां वे जिन्दा जलाए गए हरिजनों को मनुपुत्र कहते हैं और उनको जिन्दा जलाने वाले सवर्णों को भी। इस कविता के दलित पाठक अपने को मनु का पुत्र कहना अपना अपमान समझते हैं।

हमने अभी जिन लेखकों की चर्चा की है, उनके लेखन के आधार पर हिन्दी में दलित साहित्य की धारा की बात करना मुझे ठीक नहीं लगता। इनमें से कोई लेखक केवल दलित जीवन का लेखक नहीं है। इनमें से हरेक ने दलित जीवन पर केवल एक या दो रचनाएं लिखी हैं और वह भी व्यापक मानवीय सहानुभूति के तहत, न कि दलितों की दृष्टि से समाज को बदलने के लिए। दूसरी बात यह है कि स्वाधीनता के बाद के हिन्दी साहित्य की व्यापकता को देखते हुए इन तीन-चार रचनाओं के आधार पर दलित साहित्य की एक धारा की बात करना ठीक नहीं है।

● समूचे हिन्दी साहित्य में किसी दलित लेखक को कोई महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त नहीं है। क्या इसके मूल में सवर्णवाद का हिन्दी साहित्य पर हावी होना है?

आपका सवाल ही हिन्दी क्षेत्र की सांस्कृतिक दुनिया में दलितों की स्थिति पर सबसे बड़ी टिप्पणी है। हिन्दी साहित्य में एक भी दलित लेखक की महत्वपूर्ण उपस्थिति

का अभाव यह साबित करता है कि हिन्दी क्षेत्र की सांस्कृतिक दुनिया पर सवर्णवाद का वर्चस्व कितना प्रबल है। वैसे थोड़ी देर के लिए हम साहित्य की बात छोड़कर संस्कृति के दूसरे रूपों या अन्य कलाओं की दुनिया में दलितों की स्थिति पर ध्यान दें तो सवर्णवाद के वर्चस्व की व्यापकता का पता लगेगा। आप संगीत, नृत्य, चित्र आदि कलाओं को देखिए या नाटक और रंगमंच पर ध्यान दीजिए तो आपको मालूम होगा कि इन सभी कलाओं में और ऐसी अन्य कलाओं में भी कहीं किसी दलित की महत्वपूर्ण उपस्थिति नहीं है। हर जगह सवर्ण ही छाए हुए हैं। क्या यह हिन्दी क्षेत्र की संस्कृति के एकांगी विकास और उस पर सवर्णवाद के हावी होने का प्रमाण नहीं है? अगर संस्कृति के अन्य क्षेत्रों में कहीं कोई दलित अपने लिए महत्वपूर्ण स्थान नहीं बना पाया है तो साहित्य में ही किसी दलित के लिए कैसे जगह निकल पाएगी? असल में संस्कृति के दूसरे रूपों और साहित्य में भी कलाकार और रचनाकार के रूपों में दलितों की अनुपस्थिति का एक कारण यह है कि जहां दलितों को जीने के लिए जानलेवा परिश्रम करना पड़ता है, वहां उन्हें कला और साहित्य को रचने और उनका आस्वादन करने की सुविधा और स्वतंत्रता कैसे होगी? संस्कृति के विभिन्न क्षेत्रों में दलितों की अनुपस्थिति के दूसरे कारण की खोज के लिए इतिहास की ओर देखना होगा। इस बातचीत के दौरान हम देख चुके हैं कि कई हजार वर्षों के संस्कृत साहित्य के इतिहास में कहीं कोई दलित रचनाकार नहीं है और अगर कभी रहा है, तो उसकी रचना न जीवित रूप में अस्तित्व में है, न इतिहास में दर्ज। इससे जाहिर है कि भारतीय समाज और संस्कृति के कई हजार वर्षों के इतिहास में उच्च वर्ग और उच्च वर्ण के लोगों ने दलितों को संस्कृति की दुनिया से हमेशा जानबूझकर और जबर्दस्ती अलग रखा है। इसलिए अगर आज कला, साहित्य और संस्कृति के क्षेत्र में दलित अनुपस्थित है तो इसका गहरा सम्बन्ध भारतीय समाज के इतिहास की प्रक्रिया से है।

पहले की तरह आज भी संस्कृति और साहित्य के क्षेत्र में दलितों की वही स्थिति है, जो समाज की संरचना और भौतिक परिवेश में है। इन सभी क्षेत्रों में वे हाशिए पर रहने के लिए मजबूर हैं। आज भी अधिकांश दलित समुदाय गांवों में और शहरों में भी सुविधासम्पन्न उच्च वर्ण की बस्तियों तथा घरों से पहले की तरह ही अलग और दूर रहते हैं। प्रमाण के लिए कोई चाहे तो शहरों की झोपड़-पट्टियों और गांवों की हरिजन बस्तियों को देख सकता है। हाशिए पर रहने की यही स्थिति संस्कृति और साहित्य के क्षेत्र में भी दिखाई देती है। इसलिए अगर हिन्दी साहित्य में किसी दलित लेखक को कोई महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त नहीं है तो यह दुःखद भले हो, आश्चर्यजनक एकदम नहीं है। संस्कृति के क्षेत्र में सवर्णों के वर्चस्व और दलितों के हाशिए पर होने से यही साबित होता है कि सत्ता से संस्कृति का गहरा रिश्ता है।

इसलिए जो सत्ता से वंचित है, वह संस्कृति से सम्पन्न कैसे हो सकता है? यहां सत्ता का मतलब केवल राजसत्ता नहीं है। ज्ञान की सत्ता राज की सत्ता से कम महत्वपूर्ण नहीं होती। हिन्दी क्षेत्र के दलित युगों से ज्ञान की सत्ता से वंचित रहे हैं, इसलिए वे संस्कृति के भी सर्वहारा बने रहे।

- मार्क्सवाद और दलित चेतना का क्या सम्बन्ध है? दलित चेतना को मार्क्सवादी चिन्तनधारा अपना अंग क्यों नहीं बना पाई?

मूलतः मार्क्सवाद समाज के शोषित-उत्पीड़ित और पराधीन जनसमुदाय की मुक्ति का दर्शन है, इसीलिए दलित चेतना से उसकी सहज और स्वाभाविक एकता होनी चाहिए। लेकिन हिन्दुस्तान में और खास तौर से हिन्दी क्षेत्र में ऐसी एकता नहीं दिखाई देती। जहां समाज, साहित्य और संस्कृति में दलित चेतना का विकास हुआ है, वहां भी मार्क्सवाद और दलित चेतना के बीच एकता के बदले संघर्ष की ही प्रवृत्ति अधिक दिखाई देती है। महाराष्ट्र में यही स्थिति है। वहां के दलित चेतना वाले लेखकों तथा विचारकों का मार्क्सवादियों से लगातार विवाद चलता रहा है। अम्बेडकरवादी या तो मार्क्सवाद की सर्वोच्चता स्वीकार नहीं करते या फिर समाज के परिवर्तन की प्रक्रिया के लिए मार्क्सवाद के साथ अम्बेडकर के विचारों को मिलाकर चलने की अनिवार्यता पर जोर देते हैं। मार्क्सवादी वर्ग दृष्टि के भीतर संपूर्ण इतिहास प्रक्रिया के अतीत, वर्तमान और भविष्य को समेट लेने की बात करते हैं। लेकिन अम्बेडकरवादी कहते हैं कि वर्ण और जाति की वास्तविकता को अस्वीकार करके न तो भारतीय समाज के अतीत और वर्तमान को समझा जा सकता है और न समाज के भावी विकास की प्रक्रिया को तेज किया जा सकता है। वे यह भी कहते हैं कि हजारों वर्षों के भारतीय समाज के इतिहास में दलितों की अत्यन्त पराधीन स्थिति को वर्ण और जाति की उपेक्षा करके समझना संभव नहीं है।

मार्क्सवाद जिस ऐतिहासिक और सामाजिक प्रक्रिया की उपज है, उसमें जाति व्यवस्था जैसी कोई बात नहीं थी। इसीलिए मार्क्स के सामाजिक विश्लेषण में वर्ण और जाति की वास्तविकता अनुपस्थित है। हिन्दी और हिन्दुस्तान के मार्क्सवादी अपने देश और समाज की वास्तविकता के अनुकूल मार्क्सवाद को विकसित करने के बदले उसकी काल्पनिक शुद्धता पर जोर देते हैं और वर्ग चेतना के साथ वर्ण चेतना के वास्तविक तथा संभावित सम्बन्धों की उपेक्षा करते हैं।

हिन्दी और हिन्दुस्तान में जो मार्क्सवाद प्रचलित है, दलित चेतना से उसके विडंबनापूर्ण सम्बन्ध के अनेक कारण और परिणाम दिखाई देते हैं। हम अगर पार्टियों से स्वतंत्र मार्क्सवादियों को छोड़कर केवल मार्क्सवाद से जुड़ी पार्टियों की संरचना और विचारधारा को देखें तो स्पष्ट होगा कि उनमें दलितों और दलित चेतना के लिए कितनी कम जगह है? क्या यह कम्युनिस्ट पार्टियों के विशिष्टतावादी रवैये का प्रमाण

नहीं है? इधर हाल के कुछ वर्षों से हिन्दी क्षेत्र में और अन्यत्र भी दलित आन्दोलन और दलित चेतना के विकास का दबाव कम्युनिस्ट पार्टियों पर भी पड़ रहा है और उनके भीतर दलितों के सवाल पर सोच-विचार की प्रक्रिया तेज हुई है।

असल में हिन्दुस्तान में दलित चेतना से मार्क्सवाद के विडंबनापूर्ण सम्बन्ध की पहचान के लिए यहां के मार्क्सवादियों की मानसिक बनावट को समझना जरूरी है। जाति व्यवस्था केवल एक सामाजिक व्यवस्था नहीं है, वह लम्बे काल से चली आती हुई परम्परा भी है, जो भारतीय मनुष्य की चेतना, उसके संस्कार, उसके बोध और उसकी पूरी मानसिक बनावट को प्रभावित करती है। इसीलिए उसके प्रभाव से मुक्त होना सहज और सरल नहीं है। कई बार जो लोग जातिवाद को व्यवहार में अस्वीकार करते हैं, वे अपने विचार और संस्कार से उसे निकाल नहीं पाते। वह उनके चिन्तन और लेखन में जाने-अनजाने, गुप्त या प्रकट रूप में मौजूद रहता है। जातिवाद भारतीय मनुष्य की सम्पूर्ण संवेदनशीलता को प्रभावित करता है क्योंकि भारतीय मनुष्य जन्म से लेकर मृत्यु तक जाति सम्बन्धी प्रभावों से घिरा रहता है। इसलिए जातिवाद के प्रभाव से मुक्त होने के लिए कठिन आत्मसंघर्ष और व्यापक सामाजिक संघर्ष की जरूरत होती है। लेकिन मार्क्सवाद एक विचार या विचारधारा है, जिसको अपनाना कठिन है, छोड़ना उतना कठिन नहीं है। यही कारण है कि अनेक मार्क्सवादी मार्क्सवाद को छोड़ने के बाद यह जान पाते हैं कि जब वे खुद को मार्क्सवादी कहते थे, तब भी मार्क्सवादी नहीं थे। हिन्दी में ऐसे मार्क्सवादी हैं, जो मानते हैं कि आज भले ही वर्ण व्यवस्था प्रतिक्रियावादी हो लेकिन पहले वह प्रतिक्रियावादी नहीं थी। वे कहते हैं कि भारतवर्ष में वर्ण व्यवस्था थी, इसलिए भारतीय समाज प्रतिक्रियावादी था यह भ्रांति है। वे वर्ण व्यवस्था और जातिप्रथा को श्रम विभाजन के सिद्धांत के सहारे बुद्धिसंगत बनाने की कोशिश करते हैं। उनकी राय में जाति विरादरी का आधार श्रम विभाजन है, न कि जन्म। यह एक तरह से मार्क्सवादी मुहावरे के सहारे सामाजिक असमानता की वास्तविकता को झुठलाना है। इस मार्क्सवादी वैज्ञानिकता की आड़ में 'मेरा भारत महान' का आग्रह छिपा हुआ है। ऐसे मार्क्सवादी वर्ण व्यवस्था और जातिप्रथा का विरोध करने वाले प्रत्येक व्यक्ति और विचार का विरोध करते हैं। उनकी नजर में बुद्ध, राहुल और अम्बेडकर इतिहास के अपराधी हैं क्योंकि वे जाति व्यवस्था के विरोधी हैं। क्या यह हिन्दी क्षेत्र के मार्क्सवाद और खास तौर से साहित्य में सक्रिय मार्क्सवाद पर सवर्णवाद का प्रभाव नहीं है? इसलिए मुझे लगता है कि हिन्दी साहित्य के कई मार्क्सवादी असल में सवर्ण मार्क्सवादी हैं। यह बात उनके साहित्य, समाज और संस्कृति संबंधी विश्लेषण में देखी-दिखाई जा सकती है। ऐसी स्थिति में अगर दलित चेतना से मार्क्सवाद का विडंबनापूर्ण संबंध हो तो क्या आश्चर्य।

- समकालीन हिन्दी साहित्य में दलित रचनाशीलता की क्या स्थिति है? कौन लोग इस दिशा में सक्रिय हैं और उनकी रचनात्मक संभावनाएं क्या हैं?

आज का हिन्दी का दलित साहित्य रचनाशीलता की लगभग उसी अवस्था से गुजर रहा है, जिससे हिन्दी साहित्य का भारतेन्दु युग गुजर रहा था। आज के दलित लेखक अपनी रचनाशीलता की अभिव्यक्ति के रास्तों की तलाश कर रहे हैं और उस तलाश की समस्याओं से जूझ रहे हैं। वे अपने समकालीन और समानांतर मौजूद हिन्दी साहित्य की मुख्यधारा का अनुकरण करके सार्थक दलित लेखन का विकास नहीं कर सकते क्योंकि हिन्दी साहित्य की मुख्यधारा कला की चिन्ता के कारण अपने पाठकों से जिस तरह दूर होती जा रही है, उस स्थिति में दलित साहित्य का होना, न होने से बहुत बुरा नहीं होगा। दलित लेखन के वास्तविक पाठक वे हैं, जो साहित्य की जटिलताओं से अपरिचित हैं और कला के रहस्यवाद की गुत्थियों से आतंकित भी। इसलिए उन्हें सरल, सहज और सुबोध साहित्य चाहिए, जो उनको जिन्दगी की सच्चाई, वास्तविकता और आकांक्षा का साक्षात्कार करा सके। ऐसी स्थिति में हिन्दी के दलित लेखक समकालीन हिन्दी साहित्य के पीछे चलकर या उसका अनुकरण करके ऐसा साहित्य नहीं लिख सकते, जो दलित चेतना के जागरण में सहायक हो।

हिन्दी के अनेक दलित लेखक हिन्दी साहित्य की मुख्यधारा की पत्रिकाओं में छपने लगे हैं, लेकिन इसके साथ ही वे अपनी अलग पत्रिकाएं भी निकाल रहे हैं। उन पत्रिकाओं के माध्यम से भी दलित साहित्य सामने आ रहा है। अनेक दलित लेखकों के काव्य संग्रह और कहानी संग्रह इस बीच आए हैं। हिन्दी के कुछ दलित लेखक मराठी के दलित लेखकों की तरह आत्मकथा या आत्मवृत्त लिखकर अपने जीवन के माध्यम से अपने समुदाय की जिन्दगी की वास्तविकताओं और समस्याओं की अभिव्यक्ति कर रहे हैं। मोहनदास नैमिशराय ने 'अपने-अपने पिंजरे' में यही प्रयास किया है।

आजकल जो दलित साहित्य सामने आ रहा है, उसके बारे में आमतौर पर हिन्दी के लेखक और आलोचक कहते हैं कि उसमें कला नहीं है या यह भी कि वह बहुत अच्छा साहित्य नहीं है। इस प्रसंग में, इस सच्चाई पर ध्यान देना जरूरी है कि दलित लेखकों के पास कला भले न हो, लेकिन उनके मन में कुछ कहने की, अपनी भावनाओं को व्यक्त करने की बेचैनी है। उनकी आत्माभिव्यक्ति की आकांक्षा को समझे बिना, कला की मांग करना उनके साथ ज्यादाती है। दलित लेखकों की अधिकांश रचनाओं में, खास तौर से कविताओं में, समाज के उच्च वर्ग और उच्च वर्ण के प्रति गहरे आक्रोश और तीव्र नफरत की अभिव्यक्ति हो रही है। रचना में जहां भी आक्रोश, नफरत और बेचैनी की अभिव्यक्ति होती है, वहां अभिव्यक्ति का स्वर बहुत सधा हुआ नहीं होता। ब्रेश्ट ने ठीक ही कहा था कि क्रोध में आवाज कर्कश हो जाती

है। अधिकांश दलित कवियों की रचनाओं में 'इन्कार भरी चीख' (धूमिल) सुनाई पड़ती है। 'युद्धरत आम आदमी' में छपी कुछ दलित कवियों की कविताओं को पढ़कर दलित कविता के विकास की दिशा और उसके मुख्य स्वर की पहचान हो सकती है। दलित कविता में अब पहले की तरह शिकायत का स्वर नहीं है, बल्कि सवर्ण समाज और उसकी संस्कृति के मूल्यों तथा मान्यताओं पर तीखा आक्रमण भी उभरकर सामने आता है, जैसे कि ओमप्रकाश वाल्मीकि की कविताओं में। शरद कोकास की कविता 'शुक्र मनाओ' में चुनौती का स्वर अधिक उग्र है। अनेक दलित कवि भारतीय समाज के इतिहास में अपने इतिहास की खोज की कोशिश कर रहे हैं और साथ ही भावी समाज में अपनी जगह की खोज भी। कंवल भारती की कविता 'शंबूक' में रामकथा के नये अर्थ की खोज है और इतिहास में दलितों के साथ हुए अन्याय के प्रति गुस्से का भाव भी। कुछ दलित कवि आज की भारतीय राजनीति में दलितों की उस स्थिति के बारे में अपना क्षोभ व्यक्त कर रहे हैं, जिसमें दलितों को तरह-तरह की यातना से गुजरना पड़ता है। भारतीय समाज में दलितों की अपमानजनक स्थिति का अन्दाज इस बात से लगाया जा सकता है कि अनेक दलित जातियों की जातिसूचक संज्ञाओं का सवर्णों के बीच गाली की तरह प्रयोग होता है। किसी सवर्ण को चमार या डोम कहना उसको गाली देना है। लेकिन चमार और डोम जाति के दलित जीवनभर उसे सुनते और बर्दाश्त करते रहते हैं। इस स्थायी अपमानजनक स्थिति की अभिव्यक्ति रामलखन पाल की कविता 'जिन्दगी अपमान की' में है। कुछ दलित कवि भारतीय समाज और संस्कृति के इतिहास के बारे में तरह-तरह के सवाल उठा रहे हैं और दलितों की भोगी हुई यातनाओं का हिसाब भी मांग रहे हैं। एन.आर. सागर की कविता 'तब तुम्हें कैसा लगेगा' में ऐसी ही कोशिश है।

आजकल कविता, कहानी, आत्मकथा आदि के रूप में जो दलित लेखन आ रहा है, उसमें सधे हुए स्वर और उच्च कला की खोज करना जैसी ही कोशिश है, जैसी भारतेन्दु युग की कविता में निराला की खोज करना। मुझे लगता है कि दलित आन्दोलन के विकास के साथ दलित रचनाशीलता का विकास जुड़ा हुआ है और भविष्य में दोनों के क्रमशः विकसित होने की संभावना है। जैसे समाज में कोई परिवर्तनकारी प्रवृत्ति पैदा होने के बाद धीरे-धीरे अपने लिए जगह बनाती है और अपना विस्तार करती है, उसी तरह साहित्य में भी नयी रचनात्मक प्रवृत्तियों का विकास और विस्तार होता है।

- आपके विचार से दलित साहित्य के मूल्यांकन का परिप्रेक्ष्य क्या होना चाहिए? साहित्य के सामान्य प्रतिमानों से दलित साहित्य के मूल्यांकन में क्या समस्याएं हो सकती हैं।

मुझे लगता है कि जिस दृष्टि से ललित साहित्य का मूल्यांकन होता है, उसी दृष्टि से

दलित साहित्य का मूल्यांकन नहीं हो सकता। कहने का तात्पर्य यह है कि जिस दृष्टि का लक्ष्य साहित्य में लौकिक या अलौकिक आनन्द की खोज है उस दृष्टि से दलित साहित्य का मूल्यांकन करने पर उसके साथ ज्यादाती होगी क्योंकि दलित साहित्य का लक्ष्य ललित साहित्य की तरह प्रिय सत्य कहना नहीं है, बल्कि कड़वा सच कहना है और कड़वा सच कहने वाला साहित्य आनन्द देने के बदले बेचैनी पैदा करता है। फिर अगर कड़वा सच कहने के बावजूद कबीर की कविता मूल्यवान है तो उसी तरह का सच कहने वाला दलित साहित्य मूल्यवान क्यों नहीं होगा?

- हिन्दी साहित्य में आलोचना की जो दृष्टियाँ प्रचलित हैं, उनमें से प्राचीन काव्यशास्त्रीय दृष्टि दलित साहित्य के साथ न्याय नहीं कर सकती क्योंकि उस दृष्टि से दलित साहित्य की रचना दृष्टि का स्थायी विरोध है। आधुनिक दृष्टियों में आलोचना की अभिजनवादी पद्धति दलित रचनाशीलता की व्याख्या और मूल्यांकन के प्रसंग में निरर्थक है क्योंकि वह कला में जटिलता और जटिलता में कला खोजने की आग्रही है। मार्क्सवादी आलोचना की दृष्टि और पद्धति दलित साहित्य की व्याख्या के लिए उपयुक्त है, लेकिन तभी, जब वह अपनी विचार प्रक्रिया में वर्ण और जाति की वास्तविकता के लिए जगह बनाए। जो मार्क्सवादी आलोचक दलित साहित्य में वर्ण और जाति की आलोचना देखकर ही भड़क उठते हैं, वो दलित साहित्य के उद्देश्य के साथ अपनी आलोचना दृष्टि की संगति कैसे बैठा पाएंगे?

हिन्दी में परम्परावाद का आग्रह बहुत प्रबल है, बल्कि वह आग्रह परम्परा की पूजा की भावना तक जाता है। दलित साहित्य इस परंपरावाद के प्रभावों से अनेक स्तरों पर लड़ने की कोशिश कर रहा है। ऐसी स्थिति में दलित साहित्य के मूल्यांकन के सामने अनेक समस्याएं हैं। हिन्दी परंपरावाद के आग्रह का ही एक रूप यह है कि कुछ आलोचक आसानी से कबीर और रैदास की क्रान्तिकारिता की पूजा करने के लिए तैयार हो जाते हैं, लेकिन वे आज के किसी कबीर या रैदास की संभावना को भी बर्दाश्त नहीं कर पाते।

हिन्दी आलोचना में साहित्य के मूल्यांकन की एक दृष्टि वह भी है, जो प्रत्येक रचना में जातीय चेतना की खोज और पहचान पर जोर देती है। लेकिन दलित साहित्य के प्रसंग में इस दृष्टि की सीमा यह है कि उसकी जाति की धारणा के अंतर्गत दलितों की विशेष स्थिति की कोई पहचान नहीं है। यही नहीं, जातीय स्मृति में भी दलितों के शोषण, दमन और यातना को स्मृति के लिए कोई जगह नहीं है। वह दृष्टि यह देखने का प्रयास नहीं करती कि हिन्दी जातीयता के भीतर रहने वाले दलितों की सामूहिक हत्या होती रही है, उनको जिंदा जलाया जाता रहा है और उनकी स्त्रियों के साथ खुलेआम बलात्कार की घटनाएं घटती रही हैं। इसलिए जब तक हिन्दी जाति की संस्कृति के इतिहास से जुड़ी इस बर्बरता के इतिहास को भी ध्यान में नहीं रखा

जायगा, तब तक जातीय चेतना के प्रतिमान से दलित साहित्य का मूल्यांकन नहीं हो पाएगा क्योंकि आज के दलित लेखन में उस बर्बरता की स्मृति जगह-जगह व्यक्त हो रही है। सच तो यह है कि हिन्दी के दलित लेखन के विकास के साथ, उसके स्वरूप और उद्देश्य के अनुरूप, आलोचना की दृष्टि का विकास होगा, जैसा कि मराठी के दलित लेखन में हुआ है। हिन्दी के दलित लेखन के मूल्यांकन के लिए प्रतिरोध के सौन्दर्यशास्त्र का विकास जरूरी है, जो प्रतिरोध की भावना और उसकी अभिव्यक्ति के मूल्य तथा महत्व की पहचान कराने में सक्षम हो।

भारतीय समाज की वैदिक पौराणिक परम्परा अपना वर्चस्व बनाए रखने के लिए विरोधी विचारों के साथ एक सुनियोजित पद्धति का प्रयोग करती है। उस पद्धति में पहले विरोधी विचारों की उपेक्षा की जाती है। अगर उस उपेक्षा से विरोधी विचार समाप्त नहीं होता तो फिर उसका विरोध किया जाता है। अगर विरोध से भी विरोधी विचार नहीं मरता, तो उसको विकृत करने की कोशिश होती है। अगर कोई विरोधी विचार इतना शक्तिशाली हुआ कि वह उपेक्षा, विरोध और विकृति का सामना करता हुआ जीवित रहता है, तो फिर वैदिक-पौराणिक परंपरा उस विचार की क्रांतिकारी धार को कुन्द करके उसे अपने भीतर समेट लेती है। हिन्दी में वैदिक-पौराणिक परंपरा की यह वर्चस्ववादी पद्धति मौजूद है तो सक्रिय भी। हिन्दी दलित लेखन को इसी से सावधान रहने की सबसे अधिक जरूरत है।

- हिन्दी के दलित लेखन को आगे बढ़ाने के लिए कौन से प्रयास हो रहे हैं? क्या इन प्रयासों को सुगठित और व्यवस्थित दलित आन्दोलन की पूर्वपीठिका कहा जा रहा है?

जब से हिन्दी क्षेत्र की राजनीति में दलित समुदाय अपनी स्वतंत्र पहचान बनाने और विकसित करने के लिए सक्रिय हुआ है, तब से यहां के साहित्य और संस्कृति की दुनिया में दलितों की स्थिति की चिन्ता बढ़ी है। सामाजिक न्याय के आन्दोलन ने भी इस चिन्ता को ठोस रूप देने में मदद की है। इस प्रक्रिया में एक ओर दलित रचनाकार सामने आए हैं तो दूसरी ओर दलित रचनाशीलता की समस्याओं पर विभिन्न पत्रिकाओं में बहस चलने लगी है। इसी क्रम में हिन्दी साहित्य के इतिहास में दलित रचनाशीलता की उपस्थिति-अनुपस्थिति की खोज शुरू हुई है और दलित साहित्य के विकास के सन्दर्भ में प्रेमचन्द की उन रचनाओं के पुनःमूल्यांकन के प्रयास भी हुए हैं, जो दलित जीवन से जुड़ी हुई हैं।

वैसे तो दलित लेखन की समस्याओं पर छिटपुट विचार की कोशिश हिन्दी की पत्रिकाओं में बहुत दिनों से चल रही है। बहुत पहले 'सारिका' ने दलित लेखन पर विशेषांक निकाला था और 'संचेतना' ने भी। लेकिन पिछले चार-पांच वर्षों में दलित लेखन और उस पर बहस को आगे बढ़ाने में 'हंस' ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। कुछ

पहले 'समकालीन सृजन' ने भी जातिवाद और रंगभेद पर एक अंक प्रकाशित किया था। आजकल दलित रचना और विचार की अभिव्यक्ति करने वाली अनेक पत्रिकाएं निकल रही हैं उनमें निर्णायक भीम, हम दलित, दलित प्रक्रिया, अंगुत्तर आदि हैं। यद्यपि इन पत्रिकाओं का हिन्दी के पाठक समुदाय पर बहुत अधिक प्रभाव नहीं है, फिर भी दलित चेतना के निर्माण और विकास के लिए इनका प्रयास सार्थक है। 'युद्धरत आम आदमी' नाम की पत्रिका ने बड़े पैमाने पर दलित लेखन को संयोजित और प्रकाशित करने की जो कोशिश की है, उससे हिन्दी साहित्य में दलित चेतना की प्रगति में मदद मिलेगी। इधर कुछ वर्षों से मराठी के दलित लेखकों की रचनाओं के अनुवाद हिन्दी में आ रहे हैं, उनसे भी हिन्दी के दलित लेखन की नयी प्रेरणा मिल रही है। इन सभी प्रयासों को देखते हुए ऐसा लगता है कि हिन्दी साहित्य में दलित आन्दोलन के विकास की पृष्ठभूमि तैयार हो रही है। संभव है, भविष्य में यह आन्दोलन अधिक शक्तिशाली बनकर उभरे।

मुझे लगता है कि हिन्दी साहित्य में दलित चेतना के विकास के लिए दलित साहित्य के आंदोलन का विकास जरूरी है। विचार का विकास केवल ज्ञान की एकांत साधना से नहीं होता और अगर होता भी है तो वह विद्वानों के लिए चाहे जितना महत्वपूर्ण हो, जनजीवन के लिए प्रायः दुर्लभ बना रहता है। जन-आन्दोलनों के माध्यम से जो विचार विकसित होते हैं, वे जन-आन्दोलन की प्रक्रिया में ही अपनी सार्थकता पाते हैं। जब हिन्दी क्षेत्र और हिन्दी साहित्य में दलित आन्दोलन विकसित होगा, तभी दलित रचनाशीलता के विकास के रास्ते बनेंगे और उससे हिन्दी साहित्य की संपूर्ण धारा भी प्रभावित होगी।

डॉ. एन. सिंह से अश्वनी कोटनाला की बेवाक-बातचीत

दलित साहित्य के सन्दर्भ

सदियों से उपेक्षित और उत्पीड़ित दलित वर्ग में चेतना के स्वर मुखर होते दिखाई दे रहे हैं। इस चेतना का ही उत्पीड़न, उपेक्षा, व्यथा, वेदना और पीड़ा आज साहित्य की विभिन्न विधाओं के मुख्य विषय बन गए हैं। ये विषय आज वैज्ञानिक चेतना और तर्कों के साथ परोसे जा रहे हैं जिससे दलित वर्ग को शोषण, उत्पीड़न के विरुद्ध परचम खड़ा करने की प्रेरणा मिली है। दलित वर्ग को यह अहसास कराने के लिए कि उसका शोषण हो रहा है और सामाजिक समानता पाने के लिए उसे व्यवस्था से संघर्ष करना होगा, जो कलम को हथियार बनाकर दलित वर्ग के पथ-प्रदर्शक की भूमिका निभा रहे हैं उनमें डॉ. एन. सिंह का नाम महत्वपूर्ण है। दलित वर्ग की पीड़ाओं को भोगने वाले डॉ. सिंह की अभिव्यक्ति में पीड़ा की मार्मिक अनुभूति है एक संकल्प है, एक ललक है शोषण रहित समाज की स्थापना की। 'संत कवि रैदास : मूल्यांकन और प्रदेय' (आलोचना) 'सतह से उठते हुए' (काव्य संग्रह), 'दर्द के दस्तावेज', 'सम्पुट' (सम्पादित काव्य संग्रह), 'कठौती में गंगा' (नाटक) और 'काले हाशिप पर' (दलित कहानियों का सम्पादित संग्रह) आदि दलित चेतना की आधारभूमि पर खड़ी डॉ. सिंह की महत्वपूर्ण रचनाएं हैं। इसके अतिरिक्त दलित राजनीति से सम्बन्धित लेखों का संग्रह 'चीखता सच' तथा 'दलित साहित्य चिन्तन के विविध आयाम' उनकी प्रकाशनाधीन पुस्तकें हैं जबकि 'विचारयात्रा में', 'रैदास ग्रन्थावली', 'चेतना के स्वर' तथा 'यातना की परछाइयां' प्रकाशन के लिए तैयार हैं। दलित साहित्य के इस सशक्त रचनाकार डॉ. एन. सिंह से दलित साहित्य की पृष्ठभूमि, उसके विकास, वर्तमान और भविष्य पर केन्द्रित अश्वनी कोटनाला की बातचीत

- दलित साहित्य क्या है? दलित जाति के लेखक द्वारा लिखा गया साहित्य या दलित जाति के लिए लिखा गया साहित्य।

देखिए... 'दलित' शब्द का अर्थ समझ लें तो दलित साहित्य की अवधारणा भी स्पष्ट हो जाती है। दलित का अर्थ है जिसका दलन किया गया है। अब चाहे यह दलन शस्त्र के द्वारा किया गया हो या शास्त्र के द्वारा। असली बात पर आने से पहले मैं शास्त्र के द्वारा जो उत्पीड़न होता है, उसे स्पष्ट कर दूँ। प्राचीन समय से शास्त्रों की व्यवस्था के अनुसार दलित जाति के व्यक्ति के लिए पाठशाला के दरवाजे बन्द थे। चूँकि वह अनपढ़ था इसलिए धन कमाने के रास्ते बन्द थे और यदि किसी तरह उसने धन कमा लिया तो शस्त्र की व्यवस्था के अनुसार यह धन राजा के द्वारा छीन लिया जाता था। तो यह शस्त्र के द्वारा व्यक्ति का दलन था। यह कहना भी गलत नहीं होगा

कि इस वर्ग विशेष का उत्पीड़न शस्त्र की अपेक्षा शास्त्र के द्वारा अधिक हुआ है... अब असली मुद्दे की बात। यह जो उत्पीड़ित वर्ग का भुक्तभोगी व्यक्ति है उसकी पीड़ा अब साहित्य में अभिव्यक्त होती है तो इसी साहित्य को दलित साहित्य कहेंगे और यदि ऐसा साहित्य एक भुक्तभोगी व्यक्ति लिख रहा है तो स्वाभाविक है कि उसकी अभिव्यक्ति कहीं अधिक सशक्त होगी बनिस्पत उस व्यक्ति के जिसने पीड़ा को भोगा नहीं सिर्फ देखा है...दलित द्वारा शोषण और उत्पीड़न पर जो लिखा गया है वह ही दलित साहित्य है।

● प्रसंगवश प्रेमचन्द का उल्लेख करना चाहेंगे।

आपका इशारा सही है। यद्यपि प्रेमचन्द दलित जाति के नहीं थे मगर उनकी कहानी 'ठाकुर का कुआं' को मैं दलित चेतना की सर्वश्रेष्ठ रचना मानता हूं। उनकी कहानी में अद्भुत कला है। मगर दलित साहित्य की शक्ति 'कला' नहीं 'सत्य' है। इसलिए मैं दलितों द्वारा दलितों के लिए लिखे गए साहित्य को दलित साहित्य कहूंगा। अलबत्ता इस क्षेत्र में प्रेमचन्द का काम बहुत उल्लेखनीय है। उनकी काफी रचनाएं दलित चेतना की दृष्टि से विशेष महत्व रखती हैं।

● 'कफन' का संदर्भ देते हुए प्रेमचन्द को 'दलित विरोधी' कहा जाता है...?

देखिए...सिर्फ एक कहानी के आधार पर प्रेमचन्द को दलित विरोधी कहना अतिवादिता होगी। हम उनके बाकी काम को तो नजरअंदाज नहीं कर सकते। फिर जहां तक 'कफन' की बात है इसमें भले ही प्रेमचन्द ने निदान न किया हो मगर रोग की पहिचान तो की ही है।...इसीलिए कहता हूं कि आज पूरे साहित्य का पुनःमूल्यांकन बहुत जरूरी हो गया है।

● आपने कहा कि उत्पीड़न और शोषण पर जो लिखा गया है वह दलित साहित्य है।

उत्पीड़न और शोषण तो नारी का भी हुआ है। तो क्या नारी साहित्य भी... मैं तो कहूंगा कि नारी का शोषण दलितों से भी कहीं ज्यादा हुआ है। नारी साहित्य सम्पूर्ण तो नहीं मगर कुछ हद तक दलित साहित्य में रखा जा सकता है। कहना चाहिए परिधि बढ़ा देने पर यह दलित साहित्य में आ जाता है।

● सीमेनदीबुआ की 'दि सेकेण्ड सेक्स' और महादेवी की 'शृंखला की कड़ियां' को आप किस दृष्टि से देखते हैं। क्या ये पुस्तकें दलित साहित्य में रखी जा सकती हैं?

हरगिज नहीं...। यद्यपि नारी उत्पीड़न और शोषण के जितने प्रकार हो सकते हैं ये सभी 'दि सेकेण्ड सेक्स' और 'शृंखला की कड़ियां' में दर्शाये गए हैं मगर ये दोनों पुस्तकें दलित चेतना या दलित साहित्य की पुस्तकें नहीं हैं...। दरअसल नारी शोषण और दलित शोषण में एक अन्तर है। नारी स्वयं अपने आप शोषित हुई है जबकि दलित का शोषण किया गया है।

- दलित साहित्य की शुरुआत कहां से मानते हैं?

चौदहवीं शताब्दी के मध्य में रैदास पहले दलित कवि हुए हैं। उसके बाद पांच शताब्दी दलित काव्य क्षेत्र में एक शून्य रहा। 1914 में हीराडोम ने 'अछूत की शिकायत' कविता लिखी।

- शुरुआती दौर के लेखकों की दृष्टि में दलित उत्पीड़न के कारण क्या थे?

हिन्दी साहित्य में 1936 में प्रगतिशील आन्दोलन उभरा। प्रगतिशील लेखकों ने श्रमिकों और दलितों के उत्पीड़न और उनकी पीड़ा को अभिव्यक्ति दी, मगर वे इस उत्पीड़न का कारण सिर्फ आर्थिक विषमता ही मानते रहे। प्रेमचन्द का फिर जिक्र करूंगा कि वे ऐसे पहले कथाकार हैं जिन्होंने इस उत्पीड़न का कारण आर्थिक विषमता के साथ-साथ सामाजिक विषमता भी माना और सामाजिक चेतना को भी अपने साहित्य में अभिव्यक्त किया। अब गांधी की बात करें। प्रेमचन्द गांधी युग की देन हैं मगर गांधी और प्रेमचंद की दृष्टि में भी अन्तर है।

राजनीतिक होने के कारण गांधी जी दलितों के उत्पीड़न को केवल सामाजिक आयामों से जोड़ते थे और इसका निदान भी सामाजिक दृष्टि से ही सम्भव मानते थे। सामाजिक समानता के लिए उन्होंने दलितों के लिए मन्दिरों के द्वार खुलवाये, मगर मन्दिर के दरवाजे खुल जाने से दलितों की रोटी की समस्या हल नहीं हो जाती। यह बात प्रेमचन्द समझते थे...याने प्रेमचन्द ने धन और धर्म के उस गठजोड़ को भी समझा जिसके कारण दलितों का उत्पीड़न हुआ।

- पिछले कुछ वर्षों में दलित साहित्य आन्दोलन में यकायक एक तेजी आई है। इसके क्या कारण हैं?

हां...19वीं शताब्दी का समय स्वतंत्रता आन्दोलन का समय है। इसी समय लेखन के क्षेत्र में प्रगतिशील आन्दोलन भी उभरा और इसी समय अम्बेडकर भी उभरे, और उनके दबाव में गांधीजी ने, अछूतोंद्वारा आन्दोलन शुरू किया। इसके तहत जगह-जगह विशेषकर महाराष्ट्र में छोटे-छोटे अध्ययन केन्द्र खोले गए। लोगों को अभिव्यक्ति की शक्ति का पता चला। धीरे-धीरे टूटा-फूटा लेखन अब परिष्कृत लेखन के रूप में सामने आ रहा है। यकायक जिस तेजी की बात आप कर रहे हैं वह 1980 के आस-पास आई। इसी समय दलित लेखन की बात उठी। पहली दृष्टि अम्बेडकर और रैदास पर गई। उसके बाद से बहुत अच्छा काम सामने आ रहा है।

- जहां हम हिन्दी साहित्य से अलग हटकर दलित साहित्य की बात कर रहे हैं, क्या

वहां यह नहीं लगता कि दलित साहित्य, साहित्य की मुख्य धारा से कट गया है? दलित साहित्य, साहित्य की मुख्य धारा से बिल्कुल अलग नहीं है बल्कि आनेवाले वर्षों में साहित्य की मुख्य धारा ही दलित साहित्य हो जाएगी। मैं तो कहता हूं कि हिन्दी साहित्य में जो बासीपन आ गया था उसे दलित साहित्य ने दूर किया...आज व्यक्ति

की लेखन और रचनात्मक प्रतिभा को भेड़िया ने चूम लिया है। जो व्यक्ति साहित्यिक कथाएं लिख सकता था वह दूरदर्शन में और अखबारों में समाचार सम्पादित कर रहा है। जो अच्छे नाटक लिख सकता था वह धारावाहिकों के शीर्षक गीत लिख रहा है। ...मैं पूछता हूँ कि हिन्दी में काफी समय से कोई कालजयी रचनाकार क्यों पैदा नहीं हुआ...कहने का आशय यह है कि व्यक्ति की संवेदनाएं चुक गई हैं...। आज जो लोग अपने को राष्ट्रवादी कहते हैं उनके पास कोई बड़ा रचनाकार क्यों नहीं है इसलिए नहीं है कि इनकी तमाम ऊर्जा तुलसीदास तक आते-आते चुक गई जबकि दलित साहित्य की तमाम ऊर्जा, जो पहले इस्तेमाल नहीं हुई, अब बहुत अच्छी तरह इस्तेमाल हो रही है। इसीलिए दलित साहित्यकारों की ऊर्जा आज हिन्दी साहित्य का विकास ही कर रही है। उनकी ऊर्जा साहित्य को वैज्ञानिक चेतना दे रही है...एक तार्किक दृष्टि दे रही है।

- दलित वर्ग की पीड़ा उपेक्षा को ध्यान में रखकर यह साहित्य रचा जा रहा है मगर इस साहित्य की पहुंच दलित वर्ग तक नहीं है या दूसरे शब्दों में दलित वर्ग के एक बड़े हिस्से को साहित्य से कोई सरोकार नहीं है। जो शोषक है वही इसे पढ़ रहा है मगर शोषण में कोई कमी नहीं आई है। ऐसे में इस साहित्य का उद्देश्य कहां तक पूरा हो रहा है?

सही सवाल उठाये आपने। आजादी के बाद से आज तक दलित वर्ग के 18 प्रतिशत लोग तो सरकारी/प्रशासनिक सेवाओं में आगे आये ही हैं। ये तमाम लोग इस साहित्य को पढ़ रहे हैं। और इनके द्वारा ये साहित्य नीचे के तबकों तक पहुंच ही रहा है।.. दूसरी बात यह है कि सवर्ण तबका आसानी से दलितों की सामाजिक समानता को स्वीकार नहीं कर पा रहा है। यह एक सच्चाई है कि जहां दलित वर्ग में चेतना आई वहीं सवर्ण वर्ग अपना प्रभुत्व बनाए रखने के लिए और अधिक जोर लगाने लगा। इससे शोषण बढ़ा ही है।...जहां तक उद्देश्य की बात है तो भले ही दलित साहित्य से दलित वर्ग को यह अहसास तो हो ही गया है कि उसका शोषण होता रहा है और हो रहा है।...इतना और कहना चाहूंगा कि दलित साहित्य को नीचे के तबके तक पहुंचाने के लिए योजनाबद्ध लेखन की आवश्यकता है एक साफ दृष्टि की आवश्यकता है एक ऐसा सवाल उस तबके तक जाना चाहिए जिसका वहां से सीधा जवाब आए। ये सवाल उलझाने वाला नहीं होना चाहिए।

- आज हिन्दी में दलित साहित्य की स्थिति क्या है? आप इससे सन्तुष्ट हैं?

बिल्कुल संतुष्ट हूँ। इतने कम समय में दलित साहित्य ने हिन्दी में जो स्थान बनाया है वह अपेक्षा से बेहतर है। जैसा कि मैं कह चुका हूँ कि इसका कारण दलित साहित्यकारों के अन्दर शताब्दियों से संचित वह ऊर्जा है जिसका सही इस्तेमाल अब हो रहा है इसलिए हिन्दी में दलित साहित्य की स्थिति बहुत उत्साहजनक है। मैं

समझता हूँ कि आने वाले कुछ वर्षों में दलित साहित्य अनिवार्य या वैकल्पिक विषय के रूप में विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रमों में सम्मिलित कर लिया जाएगा। इसी को दृष्टिगत रखकर मेरी पुस्तकें दलित कविता पर 'चेतना के स्वर' तथा कहानी पर 'यातना की परछाइयाँ' तैयार हैं।

● दलित काव्य पर आपकी सम्पादित पुस्तक 'दर्द के दस्तावेज' 1992 में आई। यह पुस्तक दलित साहित्य में महत्वपूर्ण मानी जा रही है...?

हां...1 'दर्द के दस्तावेज' के बाद हिन्दी में दलित काव्य चेतना पर बाकायदा एक बहस की शुरुआत हुई है। इस मायने में मैं इसे महत्वपूर्ण संग्रह मानता हूँ। दलितों ने अपने उत्पीड़न के खिलाफ जो संघर्ष शुरू कर दिया है, और जो संघर्ष करना है उस संघर्ष में दलित कविता उनके लिए एक संबल है। अतः दलित काव्य और दलित कवियों की जिम्मेदारियाँ बहुत बढ़ जाती हैं।

● समकालीन दलित साहित्य के वे महत्वपूर्ण लेखक और कवि कौन से हैं, कौन-सी कृतियाँ हैं जिनका उल्लेख करना चाहेंगे?

1980 के आसपास और उसके बाद कई महत्वपूर्ण पुस्तकें आईं, जिनका लक्ष्य ही दलित चेतना को जगाना और प्रसारित करना है। इनमें मनोज सोनकर की 'शोषितनामा' डॉ. रामशिरोमणि होरिल की 'करील के कांटे', डॉ. सुखबीर सिंह की 'बयान बाहर', प्रेमशंकर की 'कविता', 'रोटी की भूख' तथा डॉ. दयानन्द बटोही की 'यातना की आंखें' आदि उल्लेखनीय कृतियाँ हैं। इसके अलावा डॉ. सोहनपाल 'सुमनाक्षर', मोहनदास नेमिशराय, डॉ. चन्द्र कुमार बरठे, जय प्रकाश नवेन्द्र, ओम प्रकाश वाल्मीकि आदि का काम भी उल्लेखनीय है। महिलाओं में रजत रानी, सुशीला टांकभैरि का काम अच्छा है। हाल ही में रामकिशोर की महत्वपूर्ण पुस्तक 'हरिजन से दलित' आई है।

● दलित साहित्य रचना व्यवस्था के विरुद्ध एक लड़ाई है इस लड़ाई में चुनौतियाँ भी होंगी?

देखिए किसी भी स्थापित व्यवस्था के खिलाफ संघर्ष, चाहे वह किसी भी धरातल पर क्यों न हो, निश्चित रूप से एक चुनौती भरा काम है। रचनात्मक दृष्टि से दलित साहित्य के सम्बन्ध में पहली चुनौती थी, दलित इतिहास का अनुसंधान। जिसकी शुरुआत डॉ. अम्बेडकर की पुस्तक 'अछूत कौन?' से होती है और बाद में जिसे 'भारत के मूल निवासियों का इतिहास' (होरी लाल), 'भारत के आदि निवासियों की सभ्यता' (चन्द्रिका प्रसाद जिज्ञासू) 'आदि निवासी और उनका संघर्ष' (एस. एल. सागर), 'सिन्धु घाटी के सृजनकर्ता शूद्र और वणिक' (नवल वियोगी), 'स्वतंत्रता संग्राम में अछूतों का योगदान' (डी. सी. डिकर), 'शूद्रों का प्राचीन इतिहास' (डॉ. रामशरण शर्मा) 'भारत में जातिवाद और हरिजन समस्या' (बाबू जगजीवन राम), 'दलित दस्तावेज' (एम.आर. विद्रोही), 'धर्म और राजनीति को दलित चुनौती' (डॉ. एस. एल. धनी)

आदि पुस्तकों में प्रस्तुत किया जा चुका है। दूसरी चुनौती थी हिन्दी साहित्य में दलित चेतना का अनुसंधान। इसे डॉ. कुसुम लता मेघवाल ने 'हिन्दी उपन्यासों में दलित वर्ग' तथा श्री माता प्रसाद ने 'हिन्दी काव्य में दलित काव्य धारा' नामक पुस्तकों में कर दिया है। अब तीसरी अवस्था में दलित साहित्य सृजन और उसके प्रसार की चुनौती का सामना कर रहा है। किसी भी व्यवस्था के विरुद्ध वैचारिक लड़ाई की चार स्थितियाँ होती हैं - नकार, संहार, स्वीकार और समाहार। पहली अवस्था में तो ध्यान ही नहीं दिया जाता। दूसरी अवस्था में विरोध किया जाता है। हिन्दी दलित साहित्य इन दो स्थितियों से गुजर चुका है, अब वह तीसरी अवस्था में पहुँच रहा है - अब उसे स्वीकार किया जाने लगा है। अब हमारे सामने सबसे बड़ी चुनौती, उसे चौथी स्थिति से बचाने की है। हम किसी भी सूरत में उसका समाहार नहीं होने देंगे। नहीं तो दलित साहित्य की भी भारत में वही स्थिति होगी, जो अतीत में बौद्ध साहित्य की हुई।

श्री माता प्रसाद जी से डॉ. राजनारायण राय की बातचीत

दलित साहित्य वेदना, चीख और छटपटाहट का साहित्य

(नवाभिव्यक्ति, साहित्यिक एवं सांस्कृतिक मंच देहरादून द्वारा 'आयोजित हिन्दी दलित साहित्य लेखन और चिन्तन परिचर्चा विषय के सम्बन्ध में डॉ. राजनारायण राय द्वारा पूछे गए प्रश्नों का उत्तर दे रहे हैं श्री माता प्रसाद जो स्वयं एक दलित साहित्यकार हैं।)

प्रश्न दलित साहित्य लेखन कब से आरंभ हुआ?

उत्तर हिन्दी में दलित साहित्य लेखन कार्य सन् 1960 ई. के बाद शुरू हुआ। यद्यपि इसके बीज सिद्ध और नाथ पंथ के गुरुओं के समय ही पड़ गए थे, हिन्दी के संत कवियों के समय उसके बीज अंकुरित हुए, स्वतंत्रता संग्राम कालीन कवियों के समय उसमें पत्ते निकलने शुरू हुए, हिन्दी के प्रगतिशील कवियों के काल में उसकी अभिवृद्धि हुई और सन् 1960 के बाद दलित साहित्यकारों ने उसे पल्लवित और पुष्पित कर दिया। दलित साहित्य पर डॉक्टर अम्बेडकर का बहुत प्रभाव पड़ा इसलिए दलित साहित्य पहले मराठी में आया, फिर हिन्दी में।

प्रश्न इसकी प्रमुख पहचान क्या है?

उत्तर इसकी प्रमुख पहचान वर्ण जाति की व्यवस्था के प्रति विद्रोह, आर्थिक असमानता के प्रति संघर्ष, धार्मिक कट्टरता का विरोध करना है। भाग्य, भगवान, पुनर्जन्म का भी यह विरोधी है। यह प्रताड़ित नारीसमाज, बन्धुआ मजदूर की दुर्दशा की चीख है। संक्षेप में जो साहित्य सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, शैक्षिक और राजनैतिक असमानता का विरोध करके समता, बन्धुता स्थापित करने की ओर प्रेरित करता है, वह साहित्य दलित साहित्य की पहचान है।

प्रश्न दलित साहित्य को किन शब्दों में आप परिभाषित करेंगे?

उत्तर दलित साहित्य वह साहित्य है जो वर्ग समाज में, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, शैक्षिक और राजनैतिक दृष्टि से दलित, शोषित, उत्पीड़ित, अपमानित, उपेक्षित,

तिरस्कृत, वंचित, निराश्रित, पराश्रित, बाधित, अस्पृश्य और असहाय हैं उनपर साहित्य की जो रचनाएं होती हैं, वही दलित साहित्य की श्रेणी में आती हैं। इसमें बन्धनों में जकड़ी स्त्रियां, बन्धुआ मजदूर, दास, घुमन्तू जातियां, अनुसूचित जातियां और अनुसूचित जन जातियां आती हैं। दलित साहित्य वेदना, चीख और छटपटाहट का साहित्य है।

प्रश्न हिन्दी के संत साहित्य को क्या दलित लेखन मानना सही है?

उत्तर हिन्दी साहित्य में संत साहित्य को दलित साहित्य के अन्तर्गत कुछ अंशों तक ही माना जा सकता है। संतों ने जहां जन्म के आधार पर जाति-पाति और असमानता का विरोध किया है, उतना अंश ही दलित साहित्य की श्रेणी में आता है। जहां पर भक्ति का वर्णन है जिसमें भगवान तक पहुंचने का मार्ग बताया गया है वह दलित साहित्य की श्रेणी में नहीं आता है।

प्रश्न दलित साहित्य लेखन क्या वर्तमान दलित राजनीतिक चेतना की उपज है?

उत्तर दलित साहित्य वर्तमान राजनीतिक चेतना के पूर्व, दलितों में शैक्षिक जागरण का परिणाम है। स्वतंत्रता के पश्चात् शिक्षा पाने वाले दलितों में स्वाभिमान की भावना जागृत हुई, उन्हें समाज में, विद्यालय में, नौकरी में, सभी जगह अपमान उठाना पड़ा। मन्दिरों में उनका जाना वर्जित रहा। शिक्षित और योग्य होने पर भी उनसे बराबरी का व्यवहार नहीं किया गया। नौकरियों में आरक्षण होने पर भी, बहाने बनाकर उनकी जगहें नहीं भरी गईं, उल्टे आरक्षण व्यवस्था का विरोध किया गया, इसलिए इनका असंतोष बढ़ता रहा। ऐसी व्यवस्था का विरोध करने की सीख युवकों को, डॉक्टर अम्बेडकर के 'शिक्षित बनों' 'संगठित हो' 'संघर्ष करो' से अधिक मिली। इस क्षेत्र में डॉ. अम्बेडकर का जीवन उनके लिए प्रेरणा स्रोत बन गया। इसलिए आप कह सकते हैं, दलितों के शिक्षित होने पर उन्हें अपनी स्थिति का अहसास हुआ, इसलिए उनमें चेतना का जागरण हुआ, इसके फलस्वरूप दलित साहित्य सृजन की भावना उनमें पैदा हुई।

प्रश्न दलित साहित्य केवल दलितों का लेखन है, और दलितों के लिए है, इस विचार से आप कहां तक सहमत हैं?

उत्तर दलित साहित्य केवल दलितों का लेखन नहीं है बल्कि जिन्होंने भी उसकी पीड़ा का अनुभव करके उनपर साहित्य सृजन किया है वह सृजन दलित साहित्य की श्रेणी में आता है। पहले अवश्य कुछ लोगों ने सोचा था कि दलितों का अपमान पीड़ा-व्यथा को जिसने अनुभव नहीं किया है वह दलित साहित्यकार नहीं हो सकता। भुक्तभोगी ही ऐसा साहित्य लिख सकता है। किन्तु अब यह माना जाने लगा है कि जो भी गैर-दलित, दलितों की स्थिति का वास्तविक चित्रण करता है वह भी दलित साहित्यकार है। इस दृष्टि से हिन्दी साहित्य में प्रेमचन्द को, इस श्रेणी में प्रथम स्थान पर रखा जा

सकता है। दूसरे भी कई गैर-दलित साहित्यकार हैं, जिन्होंने उच्च कोटि के दलित साहित्य लिखे हैं।

प्रश्न दलित साहित्य लेखन का प्रयोजन क्या है?

उत्तर दलित साहित्य लेखन का प्रयोजन दलित समाज जो सामाजिक, धार्मिक, शैक्षिक, आर्थिक, सांस्कृतिक दृष्टि से अभिशप्त है, उसे जागृत करके पुरानी रूढ़ियों को जो उनके मार्ग में बाधक हैं, उन्हें ध्वंस करने का प्रोत्साहित करना, भाग्य और भगवान पर भरोसा न करके अपने बल पर आगे बढ़ना है, इसके लिए उच्च शिक्षा प्राप्त करने को प्रोत्साहित करना, पूर्व जन्म में अच्छा काम न करने के कारण निम्न कही जानेवाली जाति में जन्म लेना, इसे पूर्णतः नकार देना है। उन्हें अपनी दुरवस्था का ज्ञान करा देना, उक्त कठिनाइयों को दूर करने के लिए संघर्ष करना और प्रत्येक क्षेत्र में बन्धुता, समानता प्राप्ति के लिए प्रयास करने को उद्यत कर देना ही दलित साहित्य का प्रयोजन है।

प्रश्न हिन्दी का दलित साहित्य क्या मराठी दलित साहित्यांदोलन से अनुप्रेरित है?

उत्तर हिन्दी का दलित साहित्य मराठी दलित साहित्य से जहां उत्प्रेरित होने का प्रश्न है, कुछ अंश तक सत्य कहा जा सकता है। जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है कि डॉ. अम्बेडकर के संघर्ष से दलितों को पहले प्रेरणा मिली संभवतः महाराष्ट्र में पेशवाओं के राज्य में अस्पृश्यता, सामाजिक अपमान, उत्तर भारत की अपेक्षा अधिक था। भुक्तभोगी दलित समाज को डॉक्टर अम्बेडकर ने रास्ता दिखाया तो वहां के दलितों में इस सम्बन्ध में पहले जागृति हुई, उन्होंने इस सम्बन्ध में पहले साहित्य लिखा बाद में जब सारे भारत में दलितों में शिक्षा के कारण जागृति पैदा हुई और उन्हें अपने अपमान करने वाली परिस्थितियों की जानकारी हुई। आगे स्वतंत्रता के बाद दलितों में सम्मान की भूख सारे देश में जागृत हुई तो हिन्दी साहित्य के साथ ही देश की अन्य भारतीय भाषाओं में भी दलित साहित्य के लेखन का सिलसिला चल पड़ा। इसलिए हिन्दी साहित्य में, मराठी दलित साहित्य के प्रभाव से इंकार नहीं किया जा सकता।

प्रश्न हिन्दी दलित साहित्य के प्रमुख हस्ताक्षर कौन-कौन हैं?

उत्तर हिन्दी दलित साहित्य में इस समय बहुत बड़ी संख्या में दलित साहित्यकार, दलित साहित्य सृजन कार्य कर रहे हैं, उनमें से कुछ का नाम सीधे दिया जा रहा है डॉ. सोहनपाल सुमनाक्षर, 233 टैगोर पार्क, माडल टाउन, नई दिल्ली; श्री श्याम सिंह शशि, सफदरजंग इन्क्लेव बी/4245 (कमल सिनेमा के पास) पुलिस स्कूल के सामने, नई दिल्ली; श्री बिहारी लाल हरित, तेलीवाड़ा, शाहदरा, दिल्ली-110032; श्री काली चरण 'स्नेही' शासकीय महाविद्यालय, आलमपुर, भिण्ड, म.प्र.; श्री कंवल भारती, अधीक्षक, राजकीय छात्रावास, समाज कल्याण रामपुर; श्री ओम प्रकाश वाल्मीकि, 4 न्यू स्ट्रीट कलालों वाली गली, देहरादून; श्री पुरुषोत्तम सत्यप्रेमी, 20 बागपुरा, सांवेर

रोड, उज्जैन; श्री अवन्तिका प्रसाद मरमट, 79, अशोक नगर, उज्जैन; डॉ. नवल वियोगी, 518 सीता नगर बस स्टैण्ड, लुधियाना, पंजाब; डॉ. एन. सिंह, 286 न्यू आवास विकास, सहारनपुर, उ.प्र.; श्री मोहन दास नैमिशराय, बी.जी. 5ए/30 बी. पश्चिम बिहार, नई दिल्ली-63; श्री श्योराज सिंह बेचैन, 6 ई महानदी जे.एन.यू. नई दिल्ली; डॉ. धर्मवीर, कांकरखेड़ा, मेरठ; डॉ. एस.एल. धनी, 3227 एम.आई.जी. सेक्टर-3, फरीदाबाद, हरियाणा; डॉ. कुसुम मेघवाल, टीचर कॉलोनी, अम्बा माता, उदयपुर, राजस्थान; डॉ. चमन लाल, रीडर, हिन्दी विभाग, गुरुनानक देव विश्वविद्यालय, अमृतसर, पंजाब; श्री लालचन्द राही, काव्यकुंज, 43/1 किशुनपुर, उज्जैन; श्री राजपाल सिंह 'राज' नगला तिकोना, अलीगढ़, उ.प्र.; श्रीमती रमणिका गुप्ता, 221ए, डिफेंस कॉलोनी, नई दिल्ली-110024; आचार्य गुरु प्रसाद, 233 टैगोर पार्क, माडल टाउन, नई दिल्ली।

उक्त के अलावा आनन्द स्वरूप, दिल्ली, बाबू लाल सुमन, इलाहाबाद श्यामलाल शर्मा, मेरठ, लक्ष्मीनारायण 'सुधाकर', दिल्ली, डॉ. प्रेम शंकर, अलीगढ़, दयानन्द 'बटोही', बिहार, राम भारती पासी, बांदा, डॉ. गया प्रसाद प्रशांत, लखनऊ, महेशपाल 'श्रमिक', लखनऊ, विमल कीर्ति, नागपुर, रमेशचन्द चौगेसिया, उज्जैन, डॉ. महीप सिंह, डॉ. अनेग दास, कालीचरण गौतम, रवीन्द्र भारती और सुशीला टाकभौरे आदि भी दलित साहित्य की रचना में संलग्न हैं।

दलित साहित्यकारों के अतिरिक्त बहुत से गैर-दलित साहित्यकारों ने भी दलित साहित्य की रचना की है। डॉ. रामकुमार वर्मा का 'एकलव्य' महाकाव्य, डॉ. जगदीश गुप्ता का 'शम्बूक बध' खण्ड काव्य, श्री नरेश मेहता का 'शबरी' खंड काव्य, धनंजय अवस्थी का 'शबरी' खंडकाव्य, श्री जयसिंह 'व्यथित' का 'दलित मसीहा' प्रबन्धकाव्य, डॉ. जगदीशचन्द्र का 'नरककुण्ड में वास', 'कभी न छोड़े खेत' 'धरती धन न अपना' (उपन्यास) उल्लेखनीय कृतियों की गणना की जा सकती है। कुछ कवियों ने दलित साहित्य की श्रेणी में स्फुट रचनाएं की हैं, इनमें श्री आरसी प्रसाद सिंह की 'हरिजन', 'तुम स्वतंत्र हो मनुष्य' और 'जाति रंग देश से', श्री भगवती चरण वर्मा की 'हिन्दू', 'कर्ण', श्री सियाराम शरण गुप्त की 'एक फूल की चाह', श्रीमती सुभद्रा कुमारी चौहान की 'प्रभु तुम मेरे मन को जानो', सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' का 'भिखारी', 'वह तोड़ती पत्थर', अवधेश बिहारी अवधेश की 'छूत छतीसी', हरिवंश राय बच्चन की 'मिट्टी के द्रोणाचार्य', बालकृष्ण शर्मा नवीन, रांगेय राघव, ज्ञानेन्द्रपति की कुछ कविताओं की गणना दलित साहित्य की श्रेणी में आती है।

प्रश्न हिन्दी दलित क्या विदेशों के अश्वेत लेखन से प्रभाव ग्रहण कर रहा है?

उत्तर हिन्दी दलित साहित्य, विदेशों के अश्वेत लेखन से प्रभाव ग्रहण नहीं कर रहा है। भारत की वर्ण व्यवस्था और विदेशों के रंगभेद में अन्तर है। यह सही है कि

विदेशों में काले गोरे रंग का भेदभाव है, वहां भी कालों को रंग के आधार पर जगह-जगह अपमानित होना पड़ता है, लेकिन उन देशों के धर्म-ग्रन्थों में चाहे वह क्रिश्चियानटी हो या इस्लाम उनमें किसी तरह का ऊंच-नीच का भेद-भाव, जाति-पाति का विष बचपन से ही उन लोगों में नहीं पिलाया जाता। व्यवहार में भले कुछ भेद-भाव होता है लेकिन भारत के हिन्दू धर्म ग्रन्थों में वर्ण व्यवस्था का विभाजन उससे उत्पन्न जाति-पाति को पूर्व जन्म का आधार बना दिया गया है, इसलिए भारत में दलित लेखन पश्चिम के अश्वेत लेखन से प्रभाव ग्रहण न कर, स्वतः प्रेरित है।

आलेख

डॉ. एन. सिंह
हिन्दी कथा साहित्य में दलित चेतना

हिन्दी में पहली कहानी कब और किसने लिखी इस पर विवाद हो सकता है। लेकिन यह निर्विवाद है कि कहानी का जन्म मनुष्य के जन्म के साथ ही हुआ है। कहानी कहने-सुनने की परम्परा उतनी ही पुरानी है, जितनी कि मनुष्य के जैविकीय विकास की कथा। लेकिन हिन्दी की पहली कहानी 1900 के बाद ही प्रकाशित हुई 'सरस्वती' में। यह युग हिन्दी कहानी के विकास का प्रारम्भिक काल है। यह युग ऐसा है, जिसमें दलितों का विद्रोह धीरे-धीरे सुलगता हुआ सामाजिक धरातल तक आ पहुँचा था। एक तो स्वतंत्रता आंदोलन के क्षितिज पर महात्मा गांधी का उदय हो चुका था, जिन्होंने पहली बार समझा था कि यह लड़ाई किसी एक वर्ग या जाति के लड़ने से नहीं जीती जा सकती। इसमें सभी धर्मों, जातियों और वर्गों ने सहयोग दिया। जिनमें अछूत भी थे। तभी अपनी विस्फोटक विद्रोही चेतना लेकर डॉ. अम्बेडकर भी भारत के राजनीतिक फलक पर अपनी उपस्थिति दर्ज कराने के लिए आ पहुँचे थे जो केवल भारत की आजादी ही नहीं चाहते थे, बल्कि अछूतों की हिन्दू धर्म से मुक्ति भी चाहते थे। अम्बेडकर कहीं अपने मिशन में सफल न हो जाएं, अतः गांधी जी ने कांग्रेस के अन्दर ही 'अछूतोद्धार' कार्यक्रम प्रारम्भ किया, जिसके कारण एक प्रकार की गांधीवादी सहानुभूति हिन्दुओं में अछूतों के प्रति देखने को मिलने लगी थी। हिन्दी के प्रारम्भिक युग के कुछ कथाकारों की कहानियों में यही सहानुभूति देखने को मिलती है। खासतौर पर सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' और यशपाल की कहानियों में। 'निराला' की दो लम्बी कहानियों या लघु उपन्यासों 'चतुरी चमार' और 'बिल्लेसुर बकरिहा' को हम ले सकते हैं। जहाँ तक यशपाल का प्रश्न है, सन् 1936 के आस-पास हिन्दी साहित्य में प्रगतिशील विचारधारा का प्रवेश हो चुका था। जिसके कारण शोषित, स्त्री और मजदूरों के प्रति सहानुभूति प्रगट करती हुई रचनाएं लिखी गईं। अतः यशपाल की कहानियों में भूख, गरीबी, शोषण का अत्यन्त दारुण चित्रण हुआ है। मूलरूप में यही दलित चेतना है। उनकी 'परदा' जैसी कहानी इसी का प्रतिनिधित्व करती है।

हिन्दी कला साहित्य में प्रेमचन्द का पदार्पण एक अभूतपूर्व घटना है। पण्डित

बनारसी दास चतुर्वेदी ने लिखा है कि प्रेमचन्द अपने समय के एकमात्र ऐसे साहित्यकार थे, जिनके कारण हिन्दी साहित्य देश की सीमाएं लांघकर विदेशों तक पहुंचा। और यह सच भी है। क्योंकि प्रेमचन्द साहित्य का अनुवाद दुनिया की लगभग हर भाषा में हो चुका है। हिन्दी कथा साहित्य में प्रेमचन्द ही ऐसे कथाकार हैं जिन्होंने पहली बार भारतीय (हिन्दू) समाज में नरक भोगते दलित को अपनी कहानियों का विषय बनाया, उसकी सम्पूर्ण यातनाओं के साथ।

भारतीय समाज में अछूतों और सवर्णों की स्थिति के दो उदाहरण डॉ. अम्बेडकर ने अपनी पुस्तक 'इनहिलेशन ऑफ कास्ट' में दिए हैं। इनमें से पहला विवरण शिमला पहाड़ की किसी देशी रियासत का है। हरिजनों ने अपनी स्थिति का वर्णन करते हुए 'हरिजन सेवक' (सम्पादक-महात्मा गांधी) में संपादक के नाम पत्र लिखा था, जिसमें कहा गया था कि

1. जब किसी ऊंची जाति के हिन्दू का कोई डंगर मर जाता है, तो डंगर का मालिक खुद उसे छूने में छूत मानता है और हरिजनों को उसे ले जाकर गाड़ना पड़ता है।
2. कोई ब्राह्मण किसी हरिजन के यहां सत्यनारायण की कथा कहने या कोई यज्ञ कराने नहीं आता।
3. किसी ऊंची जाति के लिए किसी हरिजन की स्त्री या लड़की को जबरदस्ती ले जाना कोई जुर्म नहीं माना जाता।
4. कोई हरिजन हिन्दू तरीके से कन्यादान करके अपनी लड़की की शादी नहीं कर सकता।
5. सरकारी अफसरों के दौरे के वक्त दूध, लकड़ी, घास और हर तरह की बेगार हरिजनों से ली जाती है। ऊंची जाति वालों से ये चीजें नहीं ली जातीं। इन चीजों की कीमत अगर कोई अफसर देता भी है तो, वह नम्बरदार वगैरह ले लेते हैं हरिजनों को नहीं मिलती।
6. ऊंची जाति वालों की तुलना में उतनी ही जमीन की मालगुजारी हरिजनों से दुगुनी ली जाती है। इस पर भी हरिजनों को जमीन का मारूसी हकदार नहीं माना जाता।
7. जो हरिजन इस तरह के अत्याचारों पर एतराज करते हैं, उन पर झूठे मुकदमे चलाए जाते हैं।
8. रियासतों के प्रजामण्डलों में ऊंची जाति वाले लोग हरिजनों को प्रजामण्डल के मेम्बर नहीं बनने देते। और अगर बनने भी देते हैं तो उन्हें चुनाव वगैरह में बराबरी का हक नहीं देते।

दूसरा विवरण इन्दौर रियासत के 15 गांव के सवर्णों का है जिन्होंने वहां के

अस्पृश्यों को निम्नलिखित आज्ञाओं का पालन करने को कहा था, अन्यथा गांव छोड़कर चले जाने की धमकी दी थी

1. कोई पुरुष सुनहरी किनारी की पगड़ी न लगाये, रंगीन किनारी की धोती न पहने।
2. किसी हिन्दू के मर जाने पर उसके रिश्तेदारों को खबर दें, भले ही वह दूर क्यों न रहता हो।
3. हिन्दुओं के शादी-ब्याह में बाजा बजावें।
4. अछूतों की औरतें सोने-चांदी के गहने तथा फैंसी लहंगा और जाकेट न पहनें।
5. हिन्दू औरतों को बच्चा पैदा होने के समय वे दाई का काम करें।
6. अछूतों को चाहिए कि वे बिना वेतन हिन्दुओं के यहां नौकरी करें, और जो उन्हें खुश होकर दे दिया जाए, उसे स्वीकार कर लें।

प्रेमचंद की कहानियों में शूद्रों और सवर्णों की इन सभी प्रकार की मानसिक और सामाजिक स्थितियों का चित्रण हुआ है। 'ठाकुर का कुआं' उनकी दलित चेतना की सर्वोत्कृष्ट कहानी है। इस कहानी का मूल स्वर यह है कि इन्सान होने की हैसियत से जीने के लिए हरिजन का प्रकृति प्रदत्त वस्तुओं पर अधिकार नहीं है। स्वच्छ हवा और पानी जिस पर किसी भी व्यक्ति का निजी स्वामित्व नहीं है उसे भी वह अपनी मर्जी से नहीं पा सकता। समाज में अलग-अलग जातियों के अलग-अलग कुएं हैं। किन्तु हरिजनों को छोड़कर सवर्णों के कुएं से शेष सभी पानी निकाल सकते हैं। 'ठाकुर का कुआं' का पात्र जोखू बीमार है। हरिजनों के कुएं में कोई जीव गिर कर मर गया है। पानी सड़ गया है। सड़ा पानी पीने से जोखू मर भी सकता है। जोखू की पत्नी गंगी दूसरे कुएं से पानी लाकर जोखू को पिलाना चाहती है। किन्तु जोखू सवर्णों के रवैये को जानता है और गंगी को ऐसा न करने के लिए कहता है 'हाथ पांव तुड़वा आएगी और कुछ न होगा। बैठ चुपके से। ब्राह्मण देवता आशीर्वाद देंगे, ठाकुर लाठी मारेंगे, साहू एक के चार लेंगे। गरीब का दुःख-दर्द कौन समझता है। हम तो मर भी जाते हैं, तो कोई दुआर पर झांकने नहीं आता, कंधा देना तो बड़ी बात है। ऐसे लोग कुएं से पानी भरने देंगे?'

जोखू के इस कथन की गंगी पर जबरदस्त प्रतिक्रिया होती है और वह बोल उठती है 'क्यों? उसका विद्रोही दिल रिवाजी पाबंदियों पर चोट करने लगता है। हम क्यों नीच हैं और ये लोग ऊंचे हैं? इसलिए कि ये लोग गले में तागा डाल लेते हैं। यहां तो जितने हैं, एक से एक छंटे हैं। चोरी ये करें, जाल फरेब ये करें, झूठे मुकदमे ये करें। अभी इसी ठाकुर ने तो उस दिन बेचारे गड़रिये की एक भेड़ चुरा ली थी और बाद को मारकर खा गया। इन्हीं पंडित जी के घर में तो बारहों मास जुआ होता है।

यही साहू जी तो घी में तेल मिलाकर बेचते हैं। काम करा लेते हैं, मजूरी देते नानी मरती है।

किसी हरिजन महिला के मुंह से इस तरह की बातें सुनकर और ठाकुर के कुंए से पानी निकालने की हिम्मत देखकर किसी का भी मन प्रसन्न हो सकता है। लेकिन जैसे ही इन पंक्तियों पर दृष्टि पड़ती है, तो मन हरिजनों के प्रति हो रहे अत्याचार के प्रति विद्रोह कर उठता है 'जब मैदान किसी तरह खाली होता है और गंगी पानी खींचती है, तभी ठाकुर का दरवाजा खुलता है। शेर का मुंह भी शायद इतना भयानक न होगा। गंगी के हाथ से रस्सी छूट जाती है और वह भागती हुई घर पहुंचती है। देखती है कि जोखू लोटा मुंह को लगाए वही गन्दा पानी पी रहा है।' प्रेमचन्द की यही कहानी हिन्दू समाज में दलित जीवन के अन्तर्विरोधों एवं अन्तर्सम्बन्धों को बड़ी सहजता से अभिव्यक्त करती है।

वस्तुतः अछूत भावना या अस्पृश्यता मुख्यतः तीन रूढ़िवादी मान्यताओं पर आधारित है खान-पान सम्बन्धी नियम, शादी का सम्बन्ध तथा धार्मिक उत्सव। अछूत के साथ बैठकर भोजन करना तो दूर की बात है, उसके छूने मात्र से सवर्ण हिन्दू शरीर को अशुद्ध हुआ मानते हैं। मन्दिर प्रवेश तथा धार्मिक उत्सवों में अछूत का सहयोग तो दूर, वह मन्दिर में रखी हुई मूर्ति का दर्शन भी नहीं कर सकता है। प्रेमचन्द ने इन तीनों रूढ़िवादी मान्यताओं के प्रति विद्रोह किया है, जिसका प्रमाण उनकी 'ठाकुर का कुंआ', 'घासवाली', 'दूध का दाम', 'सद्गति', 'मन्दिर', 'मंत्र' तथा 'बाबा का भोग' आदि कहानियां हैं। श्री ब्रजकुमार पाण्डेय ने दलित चेतना के सन्दर्भ में प्रेमचन्द का मूल्यांकन करते हुए लिखा है कि 'प्रेमचन्द द्वारा वर्णित हरिजन पात्रों और उनकी समस्याओं को हम दो स्तरों पर देखते हैं (1) सामाजिक स्तर और (2) आर्थिक स्तर। सामाजिक स्तर पर ये समस्याएं छुआ-छूत, मन्दिर प्रवेश निषेध, वेद-पाठ निषेध से जुड़ती हैं तो दूसरी ओर आर्थिक स्तर पर खेत मजदूरों की समस्या से। महात्मा गांधी ने हरिजन समस्या को सामाजिक समस्या के रूप में देखा था और उन्होंने उसका समाधान भी उसी स्तर से किया था। उन्होंने हरिजन आन्दोलन चलाया था। इस आन्दोलन की मूल प्रेरणा थी शूद्रों के प्रति सवर्णों की दयावृत्ति को उकसाना। इसका एक तो यह परिणाम हुआ कि अर्थनीति के कारणों से सवर्णों के प्रति शूद्रों में जो घृणा, विद्वेषमय संघर्ष बढ़ रहा था, वह धीमा पड़ गया। यह आन्दोलन बुद्ध, महावीर और स्वामी रामानन्द से आगे जाने की प्रेरणा नहीं रखता था। उस आन्दोलन से शूद्रों को कुछ मन्दिरों में भरमने का आत्मसंतोष प्राप्त हुआ, पर अर्थनीतिक व्यवस्था के बदलने से इन आंदोलनों का कुछ भी सम्बन्ध नहीं था। सामान्यतः समूह रूप में हरिजन गुलाम के गुलाम ही थे। प्रेमचंद इस सन्दर्भ में गांधी जी से आगे जाते हैं और वे इसके आर्थिक पहलुओं को उजागर करते हैं और उस पर

चोट करते हैं।’

प्रेमचन्दोत्तर कहानी विशेषकर नई कहानी मूलतः मध्यवर्गीय नगरीय जीवन के यथार्थ से जुड़ी रही है। इस कहानी का संसार मानव-मानव के बनते-बिगड़ते सम्बन्धों और उनके बदलते मूल्यों की तलाश, परम्पराबोध और आधुनिकता की टकराहट, सामाजिक-राजनीतिक गतिविधियों से उत्पन्न मानवीय विकृतियों को भोगे हुए यथार्थ के धरातल पर चित्रित करता है। इतना होते हुए भी दलित इन कथाकारों द्वारा नज़र अन्दाज कर दिया गया। सातवें दशक की कहानी में भी दलित चेतना को उभारने का प्रयास नहीं किया गया। हिन्दी कथा साहित्य में दलित चेतना की अभिव्यक्ति के दृष्टिकोण से आठवां दशक महत्वपूर्ण है। श्री रमेश कुमार ने अपने लेख ‘आधुनिक हिन्दी कहानियों में दलित चेतना’ में लिखा है कि ‘आठवें दशक के समानान्तर कहानी आंदोलन के माध्यम से समाज के कमजोर वर्ग की समस्या को कहानी का केन्द्र बनाया गया। स्वतंत्रता के पचास वर्ष बाद भी निम्न दलित वर्ग का जीवन बद से बदतर होता चला गया है। ऐसी स्थिति में दलित उन्नायकों ने अपनी कहानियों के माध्यम से इस वर्ग के जीवन का यथार्थ निरूपण किया है। इन कहानियों में दलित मानव की वेदना, निरन्तर संघर्ष करते रहने की अनिवार्यता, सुविधाभोगी लोगों के प्रति उनकी विरोध मुद्रा, प्रतिकूल नारकीय स्थिति में जीने की विवशता और अपने मानवीय अधिकारों की प्रगति हेतु आत्म सजगता जागृत हुई है।’

इस आत्मसजगता का कारण वस्तुतः शूद्रों के प्रति सवर्णों का उपेक्षापूर्ण व्यवहार है। खासकर गांव के पढ़े-लिखे हरिजन युवक को भी गांव का सवर्ण असम्मान की दृष्टि से देखता है जिसके कारण वह गांव से पलायन करके शहर आ जाता है। यहां पर उसे केवल एक ही सुविधा है आजीविका की। लेकिन यहां पर वह अपने सामाजिक परिवेश से कटकर जीने लगता है। अतः उसके सामने अपनी पहचान का संकट पैदा हो जाता है। और फिर वह अपनी पहचान के लिए संघर्ष करता है। यह संघर्ष तीन धरातलों पर है एक राजनीतिक, दूसरा आर्थिक तथा तीसरा साहित्यिक। संसद और विधान सभाओं में स्थान आरक्षित होने के कारण वह सत्ता प्राप्ति के लिए संघर्ष करता है। लेकिन इसके मूल में केवल व्यक्तिगत महत्वाकांक्षाएं ही रही हैं। क्योंकि अम्बेडकर के बाद भारत की संसद में सौ सवा सौ सांसद आरक्षित श्रेणी के सदैव ही रहे हैं। लेकिन देश भर में दलितों की स्थिति में क्या परिवर्तन हुआ? यही स्थिति प्रदेशों की विधान सभाओं की भी रही। और यहां भी हमारे गूंगे-बहरे और अकर्मण्य प्रतिनिधि ही पहुंचाए जाते रहे। दूसरे आर्थिक धरातल पर भी संघर्ष हुआ। लेकिन जो दलित युवक पढ़-लिखकर नौकरी पा गया, वह अपने समाज से, जाति से कटकर जीने लगता है। एक तरह से वह दूसरा सवर्ण ही हो जाता है।

अस्मिता के लिए तीसरा और सबसे सशक्त संघर्ष साहित्यिक धरातल पर

हुआ। क्योंकि जिस शूद्र के लिए शिक्षा प्राप्त करने का निषेध था, उसके लिए साहित्य में प्रवेश किस प्रकार सम्भव हो सकता था। वह साहित्य में आया भी तो गुलाम, दास या बन्धुआ की हैसियत से ही और यदि शूद्र स्त्री आयी तो केवल भोग्या, दासी या मजदूरिन की हैसियत से ही। इस स्वतंत्रता के बाद पढ़-लिखकर साहित्य में आए दलितों ने भी कलम पकड़ी। उसका प्रारम्भ तो कविता से ही हुआ। धीरे-धीरे वह कहानी की ओर भी आए। दलित चेतना की कथाओं के रूप में श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', प्रेमचन्द, शिव प्रसाद सिंह आदि ने एक पृष्ठभूमि प्रदान की और उस पर जिन दलित कथाकारों ने दलित कथा का सृजन करने का प्रयास किया उनमें सर्वश्री ओमप्रकाश वाल्मीकि, पुरुषोत्तम सत्यप्रेमी, मोहनदास नैमिशराय, दयानन्द बटोही, रघुनाथ प्यासा, शिवचन्द्र उमेश, कालीचरण स्नेही, बी.एल.नैय्यर आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इन सभी कथाकारों की कहानियां परम्परा के विरोध की कहानियां हैं जो परम्परा से पहले संघर्ष फिर विरोध और अन्ततः उसे नकार देती हैं।

हिन्दी के दलित कथाकारों में श्री ओमप्रकाश वाल्मीकि ही एक ऐसे कथाकार हैं, जिन्होंने अब अपनी भी पहचान स्थापित कर ली है। उनकी 'हंस' में प्रकाशित कहानियां 'बैल की खाल' और 'सलाम' काफी चर्चा में रही हैं। इनके अतिरिक्त 'ग्रहण' (हम दलित-30 मार्च, 1990) तथा लघु कथाओं में 'मुन्शी जी का गिलास' (प्रहार-जुलाई-सितम्बर 92) आदि भी चर्चित रचनाएं हैं। इन कथाओं में किसी भी वाद-विवाद से हटकर तथा किसी जाति, धर्म के प्रति घृणा न रखते हुए दलित जीवन की विद्रूपताओं का जितना प्रभावशाली चित्रण है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। उनका शिल्प किसी भी हिन्दी कथाकार की तरह मंजा हुआ एवं पूरी तरह परिष्कृत है। उनकी कहानियों में दलितों के साथ बाहर समाज में हो रहे अन्तर्द्वन्द्वों के साथ उनके आन्तरिक द्वन्द्वों का भी बेखौफ चित्रण हुआ है। 'सलाम' कहानी का एक पात्र कमल प्रगतिशील ब्राह्मण युवक है। अपने एक हरिजन सहपाठी मित्र की बारात में उत्तर प्रदेश के एक गांव में चला जाता है। वहां सुबह-सुबह उसे चाय की तलब लगती है और वह गांव की चाय की दुकान पर पहुंचकर चाय वाले से चाय बनाने के लिए कहता है। पहले तो चाय वाला उसे चाय देने को कह देता है, परन्तु जब वह बातों से जान लेता है कि वह चूहड़ों की बारात में आया है (अतः चूहड़ा ही है) तो चाय देने से मना कर देता है। इस मुद्दे पर बात होते-होते विवाद में बदल जाती है। तभी वहां बल्लू रांघड़ (ठाकुर) का रामपाल भी आ जाता है। रामपाल का कमल से व्यवहार देखिए 'बात पूरी होने से पहले ही रामपाल ने उसे डांटा ओ, शहरी जनखे हम तेरे भाई हैं? साले जबान सिभाल कर बोल, गांड में डंडा करके उलट दूंगा, जाके जुम्मन चूहड़े से रिश्ता बना। इतनी जोरदार लौंडिया लेके जा रहे हैं शहर वाले, जुम्मन के तो सींग निकल आये हैं। अरे लौंडिया को किसी गांव में ब्याह देता तो म्हारे जैसों का भी

भला हो जाता।' एक तीखी हँसी का फव्वारा छूटा, आसपास खड़े लोगों ने उसकी हँसी में अपनी हँसी मिला दी। कमल को लगा जैसे अपमान का घना बियावान जंगल उग आया है। उसका रोम-रोम कांपने लगा। उसने अपने आसपास खड़े लोगों पर निगाह डाली, हिंसक शिकारी तेज नाखून से उस पर हमला करने की तैयारी कर रहे थे।

उसने पहली बार अखबारों में छपी उन खबरों को शिद्दत से महसूस किया, जिन पर विश्वास नहीं कर पाता था वह। फलां जगह दलित युवक को पीट-पीट कर मार डाला। फलां जगह आग में भून दिया। घरों में आग लगा दी।

ओम प्रकाश वाल्मीकि एक ऐसे सम्भावनाशील दलित कथाकार हैं, जिनसे दलित कथा साहित्य को बहुत आशाएं हैं।

मोहनदास नैमिशराय एक प्रतिबद्ध दलित कथाकार हैं। उनकी कहानियां हिन्दी के सभी प्रतिष्ठित पत्र एवं पत्रिकाओं में ससम्मान स्थान पाती रही हैं। लोकमत समाचार (नागपुर), संचेतना एवं समकालीन भारतीय साहित्य (दिल्ली) में प्रकाशित उनकी कहानियां पर्याप्त चर्चा में रही हैं। उनकी कथाओं पर उनका पत्रकार हावी रहता है। और कहीं-कहीं ये कहानियां रपट बनने से नहीं बच पातीं। लेकिन उनकी कहानियों में परिवर्तन की आहटें साफ सुनाई देती हैं। और साथ ही रहता है उनमें उपदेश भी। शिल्प साधना के दौर से गुजर कर शायद वे इससे कभी मुक्ति पा जाएं। 'संचेतना' के दलित अंक में प्रकाशित उनकी कहानी 'आवाजें' एक सशक्त कहानी है जिसमें गांव के मेहतर ठाकुर आतौर सिंह की गुलामगिरी करने से साफ मना कर देते हैं, जिसके कारण पहले उनको डकैती में फंसवाकर पिटाया जाता है। यह मामला 'दलितों पर अत्याचार' बन जाता है और कानून उनकी इस हद तक मदद करता है कि इस षड्यंत्र में शामिल कानून के रखवाले भी सजा पा जाते हैं, तो ठाकुर औतार सिंह उनकी बस्ती में आग लगवा देता है। इस कहानी में परिवर्तन के स्वर देखिए 'तभी कारिन्दा पुनः कह उठता है इतवारी तुम्हें ठाकुर ने बुलाया है...। कारिन्दे के पहली बार कहने को इतवारी ने अनसुना कर दिया। जब दुबारा कारिन्दे ने उसी लहजे में कहा तो वह उबल-सा पड़ा

'कौन ठाकुर ?'

'गांव में कौन ठाकुर है तुम्हें पता नहीं है?' कारिन्दा क्षणभर में भभक उठता है।'

'नाही हमें कुछ पता नहीं। अब कहीं किसी की ठकुराहट नहीं चलती, सब अपने-अपने घर में ठाकुर हैं।'

'क्या...?' कारिन्दा अब पूरी तरह गर्मा गया था। उसे सपने में भी विश्वास न था कि इतवारी जिसकी उम्र मैला ढोते-ढोते तथा दूसरों की जूठन खाते-खाते बीत गई,

ऐसा कह सकता है।

‘मुझे ठाकुर औतार सिंह ने भेजा है...।’ कारिन्दे ने मूँछों पर अंगुली फिराते हुए कहा।

‘हूँ, कह देना अब कोई न जावत है। बहुत दिन हो गए गुलामगिरी करते-करते।’ इस प्रकार हम देखते हैं कि श्री मोहन दास नैमिशराय एक अच्छे सम्भावनाशील कथाकार हैं।

डॉ. दयानन्द बटोही का एक कथा संग्रह ‘कफनखोर’ मगध विश्वविद्यालय में बी.ए. के पाठ्यक्रम में नियत है। ये स्वयं एक लघु पत्रिका ‘साहित्य यात्रा’ के सम्पादक हैं। इनकी कहानियां यदा-कदा पत्र-पत्रिकाओं में छपती रहती हैं। ‘नई लहर’ में प्रकाशित इनकी कहानी ‘सुरंग’ पिछले दिनों चर्चा में रही है। जीवन और जगत का कटु यथार्थ इनकी कहानियों में बहुत ही तल्ल होकर सामने आता है। ‘सुरंग’ का कथानक शिक्षा जगत की बदरंग छवि हमारे सम्मुख प्रस्तुत करता है। किस तरह एक दलित शोधार्थी को विश्वविद्यालय में शोध करने से रोका जाता है। क्योंकि यह वह रास्ता है जो अच्छे जीवन की ओर जाता है। इसलिए इसमें सिद्धान्त, विचार और योग्यता के कटे बिछाए जाते हैं। ताकि उस पर चलने से पूर्व ही दलित छात्र लहलुहान हो जाएं। दलित जीवन की विसंगतियां बटोही की कहानियों का सच है, जो भोगकर लिखा गया है। इसलिए बहुत मारक है। देर तक बेचैन किए रहता है अपने पाठकों को।

इधर ‘अमर उजाला’ में प्रकाशित राजकुमार सिंह की कहानी ‘नम्बर’ तथा ‘हंस’ में प्रकाशित विभांशु दिव्याल की कहानी ‘गंडासा’ भी अपनी प्रतिबद्धता एवं आक्रोश के कारण हमारा ध्यान खींचती है। महतो टोले का मनूक मनई पंडित के यहां छप्पर छवाने के लिए बुलाया जाता है। बेगार ली गई और अन्त में मजदूरी तो दी ही नहीं गई, खाने को भी नहीं दिया। अब मनकू नए जमाने का जवान लड़का अपने इस आक्रोश को मनई पंडित की लड़की शांति से अपने काल्पनिक यौन सम्पर्क की कथा अपने समवयस्क मित्रों को सुना कर व्यक्त करता है कि वह शान्ति से उनके भी क्रमशः यौन सम्पर्क करवा देगा। अब यह सभी सोचते हैं कि कब उनका नम्बर आएगा।

विभांशु दिव्याल की कहानी ‘गंडासा’ की नायिका ‘लछिमा’ का अपराध इतना था कि कुछ जमीन के झगड़े में उसका बापू माधो पंडित के खिलाफ एक गवाही देने वाला था। उसको सबक सिखाने के लिए माधो पंडित का लड़का और एक डकैत लछिमा से बलात्कार करते हैं। जिसके कारण लछिमा के ससुराल वाले उसका गौना लेने से मना कर देते हैं। फिर माधो पंडित के लड़के और उस डकैत के यौन सम्बन्ध कभी धमकी से और कभी सहमति से होने लगते हैं। तभी एक दिन लछिमा गंडासे

से उन दोनों की टांगों के बीच वार करके दोनों की हत्या करके उनसे अपना प्रतिशोध लेती है।

अपमानजनक पेशों को छोड़कर दलित जातियों के लोग दूसरे सम्मानजनक पेशों की ओर आकर्षित हो रहे हैं। 'हंस' में प्रकाशित अमरीक सिंह 'दीप' की कहानी 'नाचो जी. आर. यार' का नायक भी अपना मैला उठाने का पुश्तैनी पेशा छोड़कर बैंड बाजा बजाना सीख लेता है। और फिर अपनी बैंड पार्टी तैयार कर लेता है। खूब पैसा कमाता है। अब शादी ब्राह्मण की हो या ठाकुर की उसे सम्मानपूर्वक तय करके बुलाया जाता है। अब ब्राह्मण भी उसे अपने गिलास में दारू पिला कर खुश होता है।

बी.एल. नय्यर की कहानी 'चतुरी चमार की चाट' सवर्ण जातियों के मन में बसी दलित जातियों के प्रति घृणा को नंगा करती है। 'चतुरी' पंडितजी के गांव का चमार है, वो अपनी नैतिकता और श्रम से पंडित जी का दिल जीत लेता है। जब गांव में काम नहीं रहता तो पंडित जी शहर जाकर चाट बेचने लगते हैं। काम बढ़ने पर उन्हें एक नौकर की जरूरत पड़ती है और वह गांव से चतुरी चमार को बुलवा लेते हैं। धीरे-धीरे पंडित जी रेहड़ी पर 'चतुरी' को भेजने लगते हैं। लेकिन 'चतुरी' के मन में डर बसा रहता है कि जब उसकी जाति का लोगों को पता चलेगा, तो लोग उसके साथ कैसा व्यवहार करेंगे। अतः 'चौबे की चाट' की जगह 'चतुरी चमार की चाट' लिखवा कर जैसे ही वह रेहड़ी चौराहे पर लाता है तो मोहल्ले के युवक उसे बुरा-भला कहते हैं। और 'चतुरी चमार' अपनी जाति के कारण अपमानित अनुभव करता है तथा लौट आता है। कितनी सहजता से यह कहानी नाथद्वारा मन्दिर प्रवेश की सच्चाई को हमारे सामने उद्घाटित कर देती है। वैसे कोई हरिजन नाथद्वारा मंदिर में नित्य प्रवेश करे, कोई बात नहीं, लेकिन वह घोषणा करके प्रवेश नहीं पा सकता। 'चतुरी चमार की चाट' जाति और (अर्थ) के अन्तर्सम्बन्धों को उद्घाटित करने वाली सशक्त एवं सफल कहानी है।

'इन्द्रप्रस्थ भारती' में प्रकाशित राजेन्द्र लहरिया की कहानी 'यहां कुछ लोग थे' धनवान होकर भी कोई दलित किसी हिन्दू उत्सव की अध्यक्षता नहीं कर सकता जबकि उस पद की सार्वजनिक नीलामी की जाती है। उधर सूरज पाल चौहान भी कहानियों पर हाथ आजमा रहे हैं। उनकी एक कहानी 'हम दलित' में तथा एक कहानी 'अंगुत्तर' में आयी है। वह अपनी कहानियों में समस्याओं को तो उठा रहे हैं, लेकिन कहानी के शिल्प को अभी साधना है उन्हें। उनमें सम्भावनाएं हैं, बशर्ते वह उन्हें विकसित कर पाएं।

दलित समस्याओं को लेकर कुछ उपन्यास भी लिखे गए हैं। हालांकि ये संख्या में कम ही हैं फिर भी इस दृष्टि से काफी महत्वपूर्ण हैं। इनमें श्री गिरिराज किशोर के 'परिशिष्ट' तथा 'यथाप्रस्तावित', नागार्जुन का 'बलचनमा', अमृत लाल नागर का

‘नाच्यौ बहुत गोपाल’, हरिसुमन बिष्ट का ‘आसमान झुक रहा है’ आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। प्रेम कपाडिया का उपन्यास अभी ‘हम दलित’ में धारावाहिक प्रकाशित हो रहा है। जबकि जयप्रकाश कर्दम का उपन्यास ‘छप्पर’ मेरी दृष्टि में पहला दलित उपन्यास है। जिसमें एक दलित युवक ‘चन्दन’ का उच्च शिक्षा के लिए संघर्ष अभिव्यक्ति पाता है जिसके कारण उसके मां-बाप को कितनी ही यातनाएं सहनी पड़ती हैं और कितने अत्याचारों का सामना करना पड़ता है। इस उपन्यास में दलित जीवन के जितने भी पहलू हैं, लगभग सभी अपनी सम्पूर्ण भयावहता के साथ उपस्थित हैं।

हिन्दी दलित कहानी और उपन्यासों में दलित समाज में हो रहे परिवर्तनों की आहट बहुत साफ सुनाई दे रही है। चाहे वह व्यक्ति के भीतर हो रहे हों या बाहर। दलित कहानी का प्रभाव उसके सच की बेखौफ अभिव्यक्ति में है। जिसके लिए बहुत साहस की आवश्यकता है। दलित कथाकारों में यह साहस है, यह कहने में मुझे कोई संकोच नहीं है। दलित कहानी का भविष्य बहुत उज्ज्वल है, उसके क्षेत्र विस्तार की बहुत सम्भावनाएं हैं। उसे पाठकों की कमी नहीं होगी। लेकिन इसके लिए दलित कथाकारों को अपने दायित्व को बखूबी निभाना होगा, उन्हें अपने सामाजिक सरोकारों को समझना होगा। भविष्य में यही दलित कहानी के जीवन स्रोत होंगे।

बी. एल. नय्यर

दलित साहित्य के होने की अनिवार्यता और उसका सौन्दर्य-पक्ष

संविधान के तृतीय-वाचन के अवसर पर खचाखच भरी संविधान-सभा में लोकतन्त्र पर दिए गए अपने भाषण में बाबा साहेब डॉ. अम्बेडकर ने कहा था “हम ‘एक राष्ट्र हैं’, ऐसा मानना मेरे मत से आत्मवंचना है। हजारों जातियों में विभाजित लोग ‘एक राष्ट्र’ कैसे हो सकते हैं? ये जातियां राष्ट्र-विरोधी हैं। इन बाधाओं पर विजय प्राप्त करने से ही हम ‘एक राष्ट्र’ हो सकेंगे...” जाहिर है कि अपने इस भाषण के माध्यम से संविधान-निर्माता ने एक मजबूत समाज, राष्ट्र, देश और आदमी की स्थापना में आड़े आने वाले जातिप्रथाजन्य विद्वेष के प्रति संविधान-सभा के मंच से समूचे देश को आगाह किया था।

अनेकता में यह कैसी एकता है कि उत्तर वैदिक काल में जिस चतुरी चमार (दलित वर्ग) को तमाम पहचानों, तमाम पाबंदियों और तमाम अमानुषिक यन्त्रणाओं के जरिए चरम-संकुचित और सीमाबद्ध कर एक ऐसे आदमी में तब्दील कर दिया गया था, जो आदमी होकर भी बाकी तमाम आदमियों के मुकाबले निहायत अलहदा किस्म का जीवन जीने को विवश हुआ और निहायत अलहदा पहचान जताने के लिए जबरन जिसकी गर्दन या बांह पर काला डोरा बंधवाया गया जिसकी कमर पर झाड़ू बंधवाया गया, जबरन जिसे बस्ती से अलग एक किनारे पर बसाया गया, जबरन जिसका पढ़ना-लिखना निषिद्ध कर दिया गया, जबरन जिससे श्रमयुक्त काम करवाया गया मगर काम के एबज में मेहनताना मांगने पर जिसे यन्त्रणा और ताने दिए गए, वगैरह-वगैरह और यहां तक कि चतुरी के स्पर्श तक को एक संगीन अपराध माना गया। इन तमाम ऐतिहासिक प्रमाणों से साफ जाहिर है कि चतुरी आदमी होकर भी बाकी तमाम आदमियों जैसा जीवन कभी नहीं जिया। बाकी तमाम आदमियों के मुकाबले वह एक ‘अलहदा’ ही रहा।

घोर चिन्ता का विषय है कि भरपूर विज्ञान और विकास के इन क्षणों में आज भी वही चतुरी हमारे बीच हमारे इर्द-गिर्द विद्यमान है। आज भी उसकी जाति उसके

लिए कमोबेश वैसी ही भयावह और कटखन्नी है जैसी पहले थी, और यदि उस भयावह और कटखन्नेपन में तब के मुकाबले अब कुछ परिवर्तन भी नजर आता है तो वह किसी सच्चे हृदय-परिवर्तन का रूप नहीं है। वह तो सहज भयावहता और कटखन्नेपन का परिष्कृत रूप है जो कि प्रजातांत्रिक व्यवस्था और संवैधानिक दबावोंवश देखने को मिल रहा है।

आज भी चतुरी जब किराए का मकान तलाशता है और मकान तलाशते कदाचित जब वह अपनी जातीय-पहचान का 'लेबिल' लगाए होता है, तब मकान का मिलना उसके लिए दुष्कर हो जाता है। अपनी जातीय-पहचान का 'लेबिल' लगाकर आज भी चतुरी बेधड़क रूप से चाट बेचने नहीं निकल सकता, और यदि वह चाट बेचने निकले भी तो इस सच से इनकार नहीं किया जा सकता, कि शाम को वह खाली जेब ही घर वापस लौटेगा। उसकी चाट नहीं बिकेगी चाहे वह कितनी स्वच्छ और स्वादिष्ट हो।

क्योंकि चतुरी सदियों से निहायत अलहदा वजूद और खाके वाला आदमी रहा है, और क्योंकि आदमी पहले है साहित्य उसके बाद और क्योंकि साहित्य आदमी की किसी विशिष्टता का होता है, इसलिए चतुरी के एक अलहदा साहित्य के होने से इनकार कैसे किया जा सकता है। इतना ही नहीं, मजबूत समाज, राष्ट्र, देश और आदमी की स्थापना की दृष्टि से चतुरी के साहित्य का होना एक ऐसी अनिवार्यता है जिसे नकारा नहीं जा सकता, क्योंकि इसके नकार का सीधा-सीधा अर्थ है मजबूत समाज, राष्ट्र, देश और आदमी की स्थापना का नकार और यह नकार केवल मजबूत समाज, राष्ट्र, देश और आदमी द्रोही मानसिकता ही कर सकती है। इसलिए नैतिक रूप से प्रत्येक ऐसे नागरिक जो मजबूत समाज, राष्ट्र, देश और आदमी में निष्ठा रखता है, का फर्ज बनता है कि वह ऐसे किसी भी नकार को सिर उठाते ही कुचल डाले। उसकी निष्ठा की यही सच्ची निशानी होगी।

चतुरी ने वैमनस्यता, बर्बरता और ज्यादाती की आग से अपना सब कुछ खाक होते देखा है। जड़ता, रूढ़िवादिता और अवैज्ञानिकता की पथभ्रष्टक सीखों-उपदेशों-प्रवचनों का चढ़ाए हुए विष से बौने और क्षत-विक्षत होते अपने कद को चतुरी ने देखा है। लगी हुई आग को या चढ़े हुए विष के अन्तिम नतीजे और हथ्र को वह बखूबी जानता है, इसलिए चतुरी का साहित्य यानि दलित साहित्य आग या विष के शमन को आहिस्ता-आहिस्ता करवाने वाले मशविरे के झांसे में आने को कतई तैयार नहीं। आग या विष का फौरन शमन कर बिना कोई हिलाहवाला किए वह समाज, राष्ट्र, देश और आदमी के समक्ष खड़े खौफनाक खतरों का पटाक्षेप चाहता है। उत्थान, प्रगति, कल्याण और भलाई के अनिवार्यतम् कार्य के लिए दलित साहित्य सौन्दर्य की खोजबीन में वक्त बरबाद करने को या तो अपने पवित्र दायित्व से बचने का समाज,

राष्ट्र, देश और आदमी-विरोधी हथकंडा मानता है या फिर, सरासर मूर्खता। दलित साहित्य मानता है, कि प्रत्येक वह कार्य या उसके करने का तरीका सौन्दर्यपूर्ण ही है, जिसे मजबूत समाज, राष्ट्र, देश और आदमी की स्थापना के लिए किया या अख्तियार किया जाए। जाहिर है कि दलित साहित्य सौन्दर्य से परहेज नहीं करता, मगर सौन्दर्य का कोई खास रूप या परिभाषा है, यह दलित साहित्य की समझ से सर्वथा परे है और इसका कारण भी है। क्योंकि अपने तन-बदन का सौन्दर्य चतुरी को उसके फटे-नुचे चीथड़ों या गन्धाती उतरन में दिखाई देता रहा है, अपने घर का सौन्दर्य उसे घास-फूस से बनी झुगगी-झोपड़ी-छप्पर या ठेठ गारे से बनी कच्ची दीवारों और गोबर से लिपे-पुते आंगन में दिखाई दे रहा है, अपने भोजन का सौन्दर्य उसे नमक पड़ी लपसी और रूखी-सूखी रोटी में दिखाई देता रहा है, अपनी इज्जत और प्रतिष्ठा का सौन्दर्य उसे निषेध और वर्जनाओं में दिखाई देता रहा है। और ये जो तमाम तरह का सौन्दर्य जो चतुरी देखता-भोगता रहा, उसका अपना-स्वसर्गित स्वयंभू सौन्दर्य कभी नहीं रहा, अपितु कलुष आलोक वाले सौन्दर्य का यह भण्डार तो उसे बड़े रहम, दया और कृपा दिखाकर इस समाज के बड़े मुखियाओं, ठेकेदारों और चौधरियों ने उपलब्ध कराया, इसलिए अब कोई चमाचम अन्यथा सौंदर्य दलित साहित्य में कहाँ से आ जाए? दलित साहित्य के पास जो सौंदर्य हमेशा से रखा गया, उसी को परावर्तित करना उसकी स्वाभाविकता ही नहीं, मजबूती भी है। इस दृष्टि से दलित साहित्य का सौन्दर्य न तो मुलम्मा चढ़ा नकली सौन्दर्य है, और न ही दोगला। नकली और दोगला होना किसी भी पवित्रता के लिए उसका वृहदतम् खतरा है। इस खतरे से अछूता दलित साहित्य का सौन्दर्य चरम पवित्र और वास्तविक है।

दलित साहित्य, यद्यपि हिन्दी साहित्य वालों के 'सत्यम्-शिवम्-सुन्दरम्' के नारे में कतई दिलचस्पी नहीं रखता, तथापि यह संयोग ही है कि वह उसके सत्यम्-शिवम्-सुन्दरम् की कसौटी पर भी एक कदम आगे रह कर खरा उतरता है। जैसा कि ऊपर उल्लेख किया जा चुका है, दलित साहित्य का 'सत्यम्' मुलम्मा चढ़ा भ्रामक सत्यम् न होकर विशुद्ध सत्यम् है। दलित साहित्य सत्यम् को 'सत्यम्' ही बनाए रखने की हार्दिक चेष्टा करता है। सत्यम् के उद्घाटन में की जाने वाली किसी भी हेराफेरी को वह सत्यम् को अपवित्र कर डालने की 'कुचेष्टा' और 'धूर्तता' मानता है। सत्यम्, जिसकी वकालत गौतम बुद्ध सरीखे महामानवों ने की थी, उस सत्यम् के स्वाद प्रभाव को कडुवा बताना दलित साहित्य की दृष्टि में उन महामानवों की अनदेखी और अवहेलना करने के समतुल्य है। सत्यम् जैसे पवित्रम् अवयव में कडुवेपन के होने को दलित साहित्य स्वीकार नहीं करता। उसका मानना है कि सत्यम् जैसे पवित्रम् अवयव में कडुवेपन का अन्वेषण केवल कडुवी मानसिकता ही कर सकती है। सत्यम् जो शिवम् (कल्याण) को स्थापित करता हो या स्थापित करने में मददगार हो, वह भला

कडुवा क्यों हो सकता है?

क्योंकि दलित साहित्य की नियति है कि सब कमजोर आदमी भी मजबूत आदमी बन जाएं, सब तथाकथित नीच आदमी भी ऊंच आदमी बन जाएं, विषमता के शिकार हुए सभी आदमी समता के धरातल पर आकर खड़े हो जाएं, सब डरे हुए आदमी भी निडर बन जाएं और टूटे आदमी फिर से जुड़कर एक हो जाएं और सब मिलकर नए सिरे से एक मजबूत समाज, राष्ट्र, देश और आदमी का अभ्युदय करें। इसमें कोई संदेह नहीं कि व्यापकता और मानवीय व्यवहार की दृष्टि से दलित साहित्य का शिवम् अद्वितीय है।

हिन्दी साहित्य वालों ने सत्यम्-शिवम्-सुन्दरम् का डंका तो खूब पीटा है, मगर उसके आत्मीय-अनुकरण में बदनीयत का ही परिचय दिया है।

रैदास और कबीर जैसे समाज सुधारक संत दलित की व्यथाकथा बांचते हुए जीव, आत्मा, परमात्मा या अध्यात्म में अंततः लीन हो गए और आखिरकार दलित को उसके भविष्य का वैज्ञानिक मार्ग सुझाना भूल गए। परिणामतः उनकी कथा का केन्द्रीय पात्र दलित भी अपने भविष्य के मार्ग को बिसारकर उन सन्तों के जीव, आत्मा, परमात्मा या अध्यात्म में लीन होकर रह गया और सदियों से श्रद्धाभाव का जो मीठा जहर उसके दिलोदिमाग में बड़ी चालाकी से आरोपित किया गया था, समाज सुधारक संत परंपरा ने उसके प्रभाव को घटाने के बजाय मुकम्मल करने की ही भूमिका निभायी। श्रद्धाभाव के वशीभूत आदमी स्वाभाविक रूप से अन्याय सह भी सकता है और अन्याय कर भी सकता है, क्योंकि श्रद्धा के वशीभूत आदमी की अपनी आंखें खुली नहीं होतीं। वह हमेशा श्रद्धा की आंखों से देखते हुए अपना मार्ग तय करता है।

हिन्दी साहित्य में समाज सुधारक संत परंपरा के बाद का वह दृश्यांश जिसमें दलित की पक्षधरता का छुटपुट चित्रण-प्रदर्शन हुआ दिखाई देता है, में दलित के प्रति जैसे रहम और दया का नजरिया रखते हुए उसके भी आदमी होने के समान वजूद और अधिकार के तर्क को कुंद ही किया गया है। उसकी अस्मिता की सशक्त स्थापना और अधिकारों की प्राप्ति के सभी मार्गों पर जैसे भारी-भरकम पाषाण खण्ड ज्यों के त्यों पड़े हुए हैं। हिन्दी साहित्य में कहीं पर भी इन अवरोधों को चकनाचूर कर रास्तों को खोल डालने जैसा चित्रण नहीं है। क्या वह प्रगतिशीलता के प्रति बरती गई लापरवाही नहीं है? सामाजिक प्राणी होने के बावजूद भी आदमी के सामाजिक सरोकारों को प्रधानता देकर सामने क्यों नहीं आने दिया गया?

क्योंकि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, इसलिए तार्किक आधार पर किसी भी साहित्य के लिए यह जरूरी है कि सर्वप्रथम वह इन सरोकारों का आकलन करे और यदि उनमें कोई मनुष्य विरोधी दूषण हो तो उसके उन्मूलन की चेष्टा करे। साहित्य

की इस बुनियादी जरूरत और शर्त को हिन्दी साहित्य लगातार नजरअन्दाज ही करता रहा है। इसके बदले उसने रीति, शृंगार, छायावाद और प्रकृति चित्रण जैसे दोयम दर्जे के विषयों पर अपनी कलम ज्यादा भांजी है क्या यह दुर्भाग्यपूर्ण बात नहीं है?

हैरत की बात है कि जिस कुत्सित समाज व्यवस्था की वजह से इस समाज और देश का आदमी टूटा और कमजोर हुआ वर्षों गुलाम रहा और उसने जितने भी युद्ध लड़े उनमें एक भी वह जीत नहीं सका, उस समाज व्यवस्था (खासकर जाति प्रथा) को बदल डालने की बात हिन्दी साहित्य हमेशा हाशिए में ही करता रहा, क्यों? निश्चय ही इस विषय पर एक बहस की आवश्यकता है।

सी. बी. भारती
दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र

हिन्दी साहित्य में साहित्य का सौन्दर्य व उसकी अर्थवत्ता सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् की कसौटी पर कसकर ही निर्धारित की जाती है। सत्यं का तात्पर्य जो कि सत्य हो यथार्थ हो। इस दृष्टिकोण से हिन्दी साहित्य का लगभग सम्पूर्ण साहित्य ही साहित्य की कोटि से खारिज हो जाता है। आध्यात्मिकता, सौन्दर्य, प्रेम व वासना के रासरंग से बोझिल हिन्दी साहित्य का सामाजिक सरोकारों से कोई दूर का भी सम्बन्ध नहीं रहा है। वैयक्तिक सरोकारों से जुड़कर ही साहित्य सर्जना हुई है। स्वान्तः सुखाय की भारी भरकम शब्दावली के नीचे जनमानस की व्यथा व आग को दबा दिया गया है। आदिकालीन साहित्य से लेकर अब तक के सृजित साहित्य पर हम इस संदर्भ में विहंगम दृष्टि डाल सकते हैं। नाथों, जैनों, सिद्धों, व सन्तों का साहित्य यद्यपि यथार्थ की पृष्ठभूमि से ही उभरा है पर वह आध्यात्मिकता के कोड़ में (पुष्पित, पल्लवित व भ्रमित होकर सत्यं से दूरतर होता गया है। यही स्थिति कृष्णाश्रयी, रामाश्रयी, व प्रेमाश्रयी साहित्य की भी है। रीतिकालीन साहित्य व उनके आश्रयदाताओं के मध्य आश्रयदाताओं की काम भावनाओं को उभार सकने व उनके रासरंग को माहौल देने के सामंजस्य का साहित्य है। कलात्मकता की बोझिलता से कराहता रीतिकालीन साहित्य सत्यं को पूरी तरह नकारने का साहित्य बन पड़ा है। आधुनिक साहित्य के अन्तर्गत छायावादी साहित्य में फिर से आध्यात्मिकता, प्रेम, सौन्दर्य व वासना उभर आयी है। जयशंकर प्रसाद ने अपने उपन्यासों, नाटकों, कहानियों तथा काव्य के माध्यम से ब्राह्मणवाद को उभारने व हिन्दुत्व की पुनर्स्थापना का सक्रिय व कलात्मक प्रयास किया है। उनके साहित्य में सत्यं पूर्णतया उपेक्षित है। महादेवी वर्मा ने तो अपना सम्पूर्ण साहित्य ही आध्यात्मिकता की भेंट चढ़ा दिया। जबकि वह नारी समस्याओं पर गहरी दृष्टि डाल सकती थीं। पन्त भी अधिकांशतः इसी उच्छ्वास से पीड़ित रहे हैं। प्रगतिवाद एवं निराला के साहित्य में अवश्य ही सत्यं की झनकार का निनाद कहीं-कहीं झंकृत होता सुनाई पड़ता है। निराला की 'तोड़ती पत्थर', 'अबे सुन वे गुलाब' व 'चतुरी चमार' को साहित्य के सत्यं की कोटि में रखा जा सकता है।

हिन्दी का अधिकांश उपन्यास, नाटक व कहानी साहित्य भी सत्यं से दूर-दूर भटकता रहा है। प्रेमचन्द की कुछ कहानियों 'ठाकुर का कुंआ', 'सद्गति' आदि में सत्यम् की प्रस्तुति है, पर 'कफन' तक आते-आते उनकी मानसिकता भी भ्रमित होती है व परिवर्तित होती प्रतीत होती है। जबकि दलित साहित्य का सम्पूर्ण वाङ्मय व साहित्य की सभी विधाओं में सृजित चाहे वह उपन्यास हो, आत्मचरित हो, कहानियां हो या काव्य हो साहित्य सत्यं की कसौटी पर पूरी तरह खरा उतरता है।

शिवम् का तात्पर्य उस साहित्य से है जो समाज को एक दिशा दे व सबके लिए कल्याणकारी हो। इस दृष्टि से भी अधिकांश हिन्दी वाङ्मय प्रश्न चिन्हों के घेरे में आ जाता है। क्योंकि आदिकाल से लेकर आधुनिक काल तक का अधिकांश साहित्य सामाजिक सरोकारों को लेकर रचा ही नहीं गया है। सभी जगह वैयक्तिक सरोकारों प्रेम, सौन्दर्य, वासना व आध्यात्मिकता अथवा कलात्मकता की कृत्रिमता का ही प्राधान्य है। कहीं भी समूचे समाज के उत्थान की स्थिति दृष्टिगोचर नहीं होती। जो साहित्य सत्यं व शिवं से परिपूर्ण हो वही सुन्दर से भी परिभाषित हो सकता है। वही समाज के लिए भी उपयोगी है। अलंकारों, छन्दों, रसों व शब्दों की कलात्मकता के माध्यम से रचा गया संवेदनशून्य, वायवीय व मानसिक व्यभिचार का साहित्य सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् की कसौटी पर खरा नहीं उतर सकता। जबकि दलित साहित्य की परिकल्पना ही सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् के व्यापक आधार फलक पर हुई है। वह मानव को देव, धर्म, देश से भी उच्च स्थान पर प्रतिष्ठित करता है।

दलित साहित्य के स्वरूप, उसके परिप्रेक्ष्य व संदर्भों के सम्बन्ध में अब अधिक तर्क-वितर्क की सम्भवनाएं नहीं हैं। दलित साहित्य अब साहित्यिक विधाओं का अलग-अलग सा कोई अजूबा नाम नहीं है। अपितु नवयुग का एक व्यापक वैज्ञानिक व यथार्थपरक संवेदनशील साहित्यिक हस्तक्षेप है। जो कुछ तर्कसंगत, वैज्ञानिक, परम्पराओं व पूर्वाग्रहों से मुक्त साहित्य-सृजन है। हम उसे दलित के नाम से संज्ञापित करते हैं। दलित साहित्य सामाजिक बदलाव का दस्तावेज है। दलित साहित्य सृजन में चेतना की अपरिहार्यता व उपयोगिता आवश्यक ही नहीं, बल्कि अपरिहार्य है। दलित साहित्य में दलितों की अस्मिता व अस्तित्व का संघर्ष शब्दों के माध्यम से आकार पाता है। दलित लेखन आवश्यक आरोपण से इतर सर्वथा तार्किक एवं वैज्ञानिक होने की मांग करता है। दलित साहित्य के सौन्दर्यशास्त्र का रूप विधायन, उसका सीमांकन व आकलन सामान्य सौन्दर्य दृष्टि से सम्भव ही नहीं है। दलित साहित्य परम्परागत कलात्मकता से इतर अनगढ़ व अटपटे शब्दों में सामाजिक अन्याय के विरुद्ध आक्रोश, सामाजिक परिवर्तन के आवाहन, उत्पीड़न व शोषण के विरुद्ध विद्रोह का साहित्य है। दलित साहित्य का सौन्दर्य वहीं निखरता है, जहां सदियों का संताप जो दलित ने सहे हैं यथार्थ अभिव्यक्ति पाता है। दलित साहित्य के सौन्दर्य में काल्पनिक रोमांटिक

रंगीनियां नहीं, अपितु घटनाओं का खुरदरापन अपने यथार्थ रूप में प्रस्फुटित होता है।

सामान्य साहित्यकार समाज व विज्ञान की वर्हिगत सौन्दर्य साधना से मुक्त होकर मानव समाज को आन्तरिक जीवन की सौन्दर्य साधना पर आरोपित व आरूढ़ करना चाहता है। उसकी सौन्दर्यवृत्ति में एक काल्पनिक रंगीनी होती है। वह वस्तु के अन्तर्हित सौन्दर्य के अन्वेषण में गतिशील रहता है। जबकि दलित साहित्य का सर्जक सामाजिक सरोकारों से जुड़कर जीवन की विषमताओं, धार्मिक विसंगतियों, शोषण के लिए निर्मित कृत्रिम उपादानों तथा मानव-मानव के मध्य निर्मित अन्तराल को मापने का प्रयास करता है। अब प्रकृति के लीला व्यापारों में खोकर किसी रहस्यमयी अलक्षित शक्ति का पाखंडपूर्ण गुणगान अथवा आवाहन न कर प्राकृतिक उपादानों पर भी वर्ग विशेष के वर्चस्व के विरुद्ध आक्रोश व्यक्त करता है। उसे चांद नायिका के मुख सदृश नहीं अपितु भूख से बिलबिलाते व्यक्ति की रोटी सदृश दिखाई पड़ता है। वह सूरज को देवता नहीं अपितु समता क्रांति का प्रखर प्रहरी मानकर चित्रण करता है, जिसकी किरणें सभी को एक सा प्रकाश देने का प्रयास करती हैं। यह अलग तथ्य है कि यह रोशनी भी साधनसम्पन्न लोगों की कैद से बचकर ही बची-खुची ही उसके हिस्से में आ पाती है। कभी-कभी वह सूरज को भी शोषक के रूप में सम्बोधित कर अपनी भड़ास निकालता है, क्योंकि सूरज की रोशनी बेघरों को व्यथित करती है। जिसने भोगा है उसी की प्रस्तुति सजीव, वास्तविक व हृदयग्राही होगी। दूर से देखकर बिना स्वयं भोगे हुए द्वारा की गई प्रस्तुति की दृष्टि सहानुभूतिपरक हो सकती है गहरी व सजीव नहीं। सामाजिक त्रासदी की टीस, जलन, व तद्जनित पीड़ा की सफल अभिव्यक्ति उसका भुक्तभोगी ही कर सकता है। दलित साहित्य के सौन्दर्य के परिप्रेक्ष्य में साहित्य के सौन्दर्य का निखार सर्जक के मानसिक अथवा बौद्धिक विकास पर अवलम्बित नहीं होता। अपितु यहां साहित्य सर्जक स्वयं भी उसी पीड़ा अथवा यातना का भोक्ता होकर ही अभिव्यक्तिगत सौन्दर्य से मुक्त साहित्य सृजन का पथानुगामी हो पाता है। उसके लिए पेट भरे होने पर ही चन्द्रमा को देखते ही किसी की याद आने की कल्पना सम्भव है

सुन्दर सा घरौंदा बसा होता गुलमोहर तले,
केवल कंगना खनकते होते,
रोज ही उदित होता चन्द्रमा झरोखे में,
सितारों से परे एक दुनिया होती,
भरे पेट में अजी देखा होता यदि चन्द्रमा,
हम किसी को याद करते।

नारायण सुर्वे

डॉ. धीरेन्द्र वर्मा द्वारा सम्पादित हिन्दी साहित्यकोश में वर्णित है कि सौन्दर्य वृत्ति अथवा सौन्दर्य चेतना का प्रमुख वैशिष्ट्य, कौतूहल, जिज्ञासा, निरन्तर परिवर्तनशीलता

अथवा प्रवाह के प्रति इस प्रवाह के साथ-साथ विभिन्न अवस्थाओं में एक अविच्छिन्न एकता और साहचर्य। जबकि दलित साहित्य के सौन्दर्य में दृष्टि होती है उत्पीड़न से उत्पन्न पीड़ा व उसके विस्तार का निरपेक्ष आकलन, धार्मिक पाखण्डों व निहित स्वार्थवश निर्मित शोषण के उपादानों के प्रति घृणा, एक सजग मानवीय अस्मिता, समत्व बोध, सामाजिक अन्याय के प्रति प्रतिकार की सामर्थ्य, सामाजिक परिवर्तनों के प्रति अड़िग आस्था व परम्परागत घृणित व्यवस्थाओं के विच्छेद की सफलता का विश्वास। दलित साहित्य में नारी रूप की दीप्ति सुकुमारता, कोमलता, बड़ी-बड़ी आंखों अथवा लाल-लाल गालों से नहीं निखरती अपितु श्रम से निःसृत स्वेदकण ही उसके सौन्दर्य की परिमाण व निर्धारण करते हैं। यहां रमणीय ईश्वर व तद्विषयक प्रभामंडित कल्पना नहीं होती, और न ही होती है आत्मविषयक थोथी झूठी परिकल्पना। यहां आध्यात्मिक अनुभूति व तद्सम्बन्धी वागविलास की भी सम्भावना नहीं। दलित साहित्य की सौन्दर्यवृत्ति भावगत की अपेक्षा कर्मगत पहलुओं के प्रति अधिक एकनिष्ठ व सजग है। यह विकसित कमल व रमणी के मुखमण्डल के सौन्दर्य का गान करने से झिझकती है, पर वटवृक्षों के नीचे दबी पौधों की त्रासद स्थितियों को विस्मृत नहीं कर पायी

कभी सोचा क्या?

आपने

उन पौधों के बारे में,

जिनके नीचे की जमीन ही

छीन ली गई।

फिर भी वह बढ़ते रहे

तोड़ पथरीली मिट्टी का आवरण,

रोशनी की राह

सूरज की ओर।

पर वटवृक्षों से रहा न गया,

विकास पौधों का उनसे सहा न गया,

खोजे जाने लगे यत्न,

किये गये प्रयत्न,

और दबा दिया गया उन्हें

काली परछाईं तले।

डॉ. सी. बी. भारती

दलित साहित्य की सौन्दर्य दृष्टि आक्सफोर्ड लेक्चरस आन पोयटरी में वर्णित “उदात्त आत्मा के अभाव में मात्र सौन्दर्यवृत्ति मानव मन को सौन्दर्योन्मुख कर सकने में सक्षम नहीं है” को ही नहीं नकारती अपितु आत्मा के अस्तित्व को ही नकार देती

है। यह डॉ. बी.एल.आत्रेय के कथन “सौन्दर्य का मूल उत्स वासना अथवा कामनाजन्य प्रेम है” पर भी प्रश्नचिन्ह लगाती है। दलित साहित्य का सौन्दर्य व उसकी सौन्दर्य-दृष्टि इन सबके विपरीत अनगढ़, उपेक्षित व सामान्य स्थितियों से इतर व्यवस्थाओं के परिवर्तन के प्रति संवेदनशील व तीक्ष्ण आक्रोश में निहित है। यहां जयशंकर प्रसाद के अनुसार ‘सौन्दर्य एक रहस्य है’ की भी स्थितियां नहीं हैं। यहां जो कुछ है सब कुछ सामने है पूर्णरूपेण नग्न व यथार्थरूप में। यहां लाक्षणिकता, ध्वन्यात्मकता, वचनवक्रता व शब्दों की कोमलकान्त पदावली नहीं मिलती, अपितु मिलती है सीधी, सपाट प्रभावोत्कर्ष पूर्ण अभिव्यक्ति। दलित साहित्य के सौन्दर्यशास्त्र निर्धारण में ब्राउनिंग का यह अभिमत कि ‘अन्तःप्रेरणा ही सौन्दर्यवृत्ति का मूल उत्स है’ को आधार बनाया जा सकता है। मानव जिन-जिन स्थितियों से गुजरता है, वहीं उसकी अन्तःप्रेरणा का निर्धारण करती है। दलित साहित्य की अन्तःप्रेरणा का निर्धारण उत्पीड़न व शोषण की त्रासदी को आत्मसात कर उसके प्रत्यक्षीकरण से होगा।

पण्डित जगन्नाथ की मान्यता ‘वाक्यं रसात्मक काव्यं’ वाणी की रसात्मकता ही काव्य है, भी दलित साहित्य के सौन्दर्यशास्त्र की रूपरेखा से कोसों दूर है। दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र वाक्यों की रसात्मकता, कलात्मकता व अंतःकरण की अपेक्षा कथ्य को महत्व प्रदान करता है। वंचित, उपेक्षित, शोषित व दलित को लेकर की गई साहित्यिक सृजना रसात्मकता के अभाव में भी अपना पूरा प्रभाव छोड़ती है। दलित साहित्य के सौन्दर्यशास्त्र के अनुसार प्रेम, सौन्दर्य व अध्यात्म को लेकर अब तक सृजित विशद रसात्मक साहित्य निरर्थक व समाज के लिए अनुपयोगी है। सौन्दर्य के पुरातन मानदण्डों को लेकर दलित साहित्य को नकारने की साजिश अब नहीं चलने वाली है। दलित साहित्य काव्यशास्त्रीय पद्धतियों, काव्यचेतना, मान्यताओं व वर्जनाओं का कोई बन्धन नहीं स्वीकार करता। वह प्राच्य व पाश्चात्य सौन्दर्य निरूपण पद्धतियों को नकारता है। दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र महान यूनानी विचारक सुकरात के इन विचारों का अनुगामी है ‘गोबर से भरी टोकरी भी सुन्दर बन जाती है, यदि वह अपना कुछ उपयोग रखती है। जबकि सुवर्ण ढाल भी असुन्दर है, यदि वह उपयोग की दृष्टि से अपूर्ण है।’ सुकरात की इस विचारधारा के अनुसार अधिकतम हिन्दी साहित्य निरर्थक व अनुपयोगी सिद्ध होता है। डॉ. आई.ए. रिचर्ड्स की मान्यता ‘भावात्मक सन्तुष्टि का नाम सौन्दर्य है’ दलित साहित्य के सौन्दर्यशास्त्र को एक आधार प्रदान करती है। पाठक अथवा श्रोता को भावात्मक संतुष्टि उन्हीं भावों से होगी जो उसके जीवन के सच को अभिव्यक्ति प्रदान करते हों। दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र विल्डनकार के अनुसार सौंदर्य वस्तुनिष्ठ नहीं मानसिक अथवा आध्यात्मिक है। शेबरसबरी का सौन्दर्य परमविभु की अभिव्यक्ति है, लोजाइनस के यहाँ इसका स्रोत आध्यात्मिक है, व क्रोचे की ‘सौंदर्य प्रकृतिगत न होकर कलाकार की सृष्टि है’

विचारधार को भी नकारता है।

सौन्दर्यदृष्टि वस्तुनिष्ठ होने के साथ-साथ व्यक्ति विशेष के अनुसार व्यक्तिनिष्ठ भी होती है। यह व्यक्तिगत आशाओं, आकांक्षाओं व रुचि पर आधारित है। एक ही वस्तु किसी व्यक्ति की दृष्टि में सुखद व सुघड़ हो सकती है दूसरे की दृष्टि में कुरूप। दलित साहित्य के सौन्दर्यशास्त्र के अनुसार निर्माण अथवा सृजन के साथ-साथ कलात्मकता का होना अनिवार्य नहीं है। दलित साहित्य का सर्जक सामाजिक विद्रूपताओं के विकर्षण को पूरी तरह उभारता है और वही उसकी प्रभावशाली सृष्टि भी है। आज के दलित साहित्य को कलात्मकता एवं परम्परा के निषेध के बहाने नकारने का कुत्सित प्रयास मराठी साहित्य में उपजे दलित साहित्य को नकारने की याद ताजा करता है।

प्रकृति के सभी उपादान चाहे वह फूल हों अथवा कांटे, चाहे पौधों की हरीतिमा हो अथवा पीतपन, दलित साहित्य के सर्जकों ने किसी भी माध्यम से अपनी कलात्मकता के मानदण्ड निर्धारित नहीं किये हैं। उसका विषय क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। वह सामाजिक विसंगतियों, असमानता के क्रोड़ से उपजी क्रूर यातनाओं, बहन-बेटियों की लुटती आबरू, भूख से बिलबिलाते दुधमुहे नौनिहालों, सर पर छतों से महरूम फटेहाल आदमियों, जाति-पाँति की गलीज विचारधाराओं, कमजोरों के विकास पथ के अवरोधों, धर्म के नाम पर नुचती देवदासियों, धार्मिक पाखण्डों व अंधविश्वासों के सहारे बनाए गए कौम-दासों को अपने साहित्य में रूपायित करता है। दलित साहित्य का सर्जक व्यवस्था का भुक्तभोगी वही आम दलित आदमी है जिसने स्वयं ही शोषण एवं यंत्रणा को सहा है। वह अपने इर्द-गिर्द फैले शोषण के अन्तहीन जाल को अपनी लेखनी के माध्यम से तार-तार कर देना चाहता है। उसमें जन्मजात आक्रोश का भाव है। उसका तेवर और उसकी व्यवस्था परिवर्तन की तिलमिलाहट ही दलित साहित्य के सौन्दर्यशास्त्र को एक विशिष्ट रूपरेखा प्रदान करती है। दलित साहित्य सृजन को प्राच्य सौन्दर्यशास्त्र के मानदण्डों पर कसकर उसे खारिज करने का प्रयास दलित साहित्य के नवअंकुरण को बाधित नहीं कर सकेगा। दलित साहित्य ने अपने पाठक, श्रोता व अपना सौन्दर्यशास्त्र विकसित कर लिया है। दलित साहित्य का रसास्वादन रसात्मकता की परम्परागत विचारधारा से ऊपर उठकर आदमीयत की भावभूमि पर स्थित निरपेक्ष व्यक्ति ही कर सकता है। दलित साहित्य का सौन्दर्य वहीं निखरता है जहाँ साहित्यकार धार्मिक रूढ़ियों, सामाजिक अन्याय व विसंगतियों को प्रखर वाणी देता है। उसका प्रस्तुतीकरण जिस सीमा तक सामाजिक व धार्मिक विद्रूपताओं के प्रति घृणा अथवा जुगुप्सा जागृत करने में सफल होता है वहीं उसके साहित्यिक सौन्दर्यशास्त्र के कोई कृत्रिम मानदण्ड निर्धारित नहीं किए हैं और न ही कलात्मकता का कोई आवरण ही ओढ़ा है। छोटी-छोटी घटनाओं के लघुता की प्रति दृष्टिपात,

ज्वलंत सामाजिक समस्याओं, वंचितों, भूखों, बेघरों, फुटपाथ व झुग्गी-झोपड़ियों में निवास करने वालों, पेट की भूख में जलते श्रम से बोझिल दलितों, पुरुष के यातनाओं से कराहती नारियों, वर्ण व्यवस्था से उपजी अमानवीयताओं, शोषण के सभी रूपों, शोषकों के घृणित अमानवीय चरित्रों को उकेरना ही उसके साहित्य का उद्देश्य है। दलित साहित्य नकार का साहित्य है। साहित्यिक परम्पराओं व मानदण्डों अथवा साहित्य के सौन्दर्यशास्त्र के कृत्रिम स्थापन से दूर दलित साहित्य स्वतंत्रता, समानता व बंधुत्व का साहित्य है। महाराष्ट्र के प्रख्यात दलित साहित्यकार बाबूराव बागुल के अनुसार 'दलित साहित्य का केन्द्र बिन्दु मानव है और वह मानव के इर्द-गिर्द ही घूमता है।'

दलित साहित्य लेखन की प्रेरणा का मूल उत्स तथागत गौतम बुद्ध, गुरु रविदास, महात्मा ज्योतिबा फूले, डॉ. भीमराव अम्बेदकर, श्री नारायण गुरु, इ.बी. रामास्वामीनायकर व स्वामी अछूतानन्द के सामाजिक समता संघर्ष से निःसृत सामाजिक परिवर्तन की समतामूलक विचारधारा है। इस विचारधारा ने कुछ गैर-दलित लेखकों को भी प्रभावित किया जिसके फलस्वरूप उन्होंने दलित समस्याओं को लेकर साहित्य सृजन का असफल प्रयास किया। अमृतलाल नागर का 'नाच्यौ बहुत गोपाल', गिरिराज किशोर का 'परिशिष्ट', धूमिल का 'मोचीराम', नागार्जुन का 'हरिजन दहन' आदि भोक्ता एवं दृष्टा की दृष्टि में मूलभूत अन्तर के कारण अपना प्रभाव नहीं छोड़ पाए। इनमें अनुभूतिजन्य सृजन से इतर सहानुभूतिपरकता की रेखाएं स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती हैं। यहां दलितों की व्यथा-कथा को यथार्थ व सजीव अभिव्यक्ति नहीं मिल पायी है।

दलित साहित्य ने अपनी सजीव संवेदनाओं की अभिव्यक्ति की एक पृथक व स्वतंत्र शैली विकसित कर ली है। इसी में ही दलित चेतना की संवाहक शक्ति है व दलित चेतना के तेवर को पूरी ऊर्जा के साथ प्रस्तुतीकरण की सामर्थ्य भी। इसे बनावटी व कृत्रिम भाषा से परहेज है व अलंकरण की भी खास जरूरत नहीं है। जो कुछ भी है सीधा-सपाट अनगढ़ जो कि अन्दर तक शीशा सा पिघलता चला जाय। दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र इन सबको लेकर ही अपना एक पृथक व जीवन्त आकार पाता है। सदियों से शोषित सोये निराश मुरझाये मनो में उत्साह व ऊर्जा का संचरण ही इसका एकमात्र साहित्यिक उद्देश्य है। इसमें हमें शिल्पगत व भाषागत सौन्दर्य नहीं मिलता, अपितु मिलती है दलितों के विकास की व सामाजिक परिवर्तन की एक नूतन क्रांतिकारी विचारधारा। दलित साहित्य के सौन्दर्य का आकलन व परीक्षण इसकी अभिव्यक्ति सफलता से ही किया जा सकता है। साहित्य के माध्यम से भोगी हुई व्यवस्थाजन्य वितृष्णा को उभार देना, सुषुप्त संवेदनाओं में आग भर देना, अंधविश्वासों व पाखण्डों को समूल जड़ से उखाड़ फेंकना, दलितों-शोषितों के मौन को वाणी देना, कलुषित परम्पराओं को तार-तार कर जातिपरक असमतामूलक

गंदी बजबजाती सामाजिक काई को खंगाल देना ही दलित साहित्य की रचनाधर्मिता, दलित साहित्य सौन्दर्य का उत्कर्ष व उसके सौन्दर्यशास्त्र का प्रतिपाद्य है। सामाजिक सरोकारों से जुड़ी रचनाधर्मिता व उसके प्रति सक्रिय प्रतिबद्धता ही दलित साहित्य का सौन्दर्य विधान है। दलित साहित्य लेखन दलित अस्मिता की तलाश है। यह सामाजिक विश्लेषण की सतत प्रक्रिया व स्थापित मान्यताओं के पुनर्परीक्षण व उनको छिन्न-भिन्न कर देने की एक अनबुझी प्यास है। वर्ण व्यवस्था से उपजी अमानवीय त्रासदी से मुक्ति की छटपटाहट ही दलित साहित्य का मूल स्वर है। यह साहित्य की खोई संवेदनाओं को कुरेदने, उकरेने व उन्हें शक्ति देने का व्यापक प्रयास है। जाति विहीन वर्गविहीन समाज की संरचना ही इसका मूल प्रतिपाद्य है। यथास्थितिवाद के विरुद्ध यह परिवर्तन की हुंकार व सफल सुगबुगाहट है। अब दलित साहित्य अमर्यादित होकर सवर्ण मात्र व ब्राह्मणवाद को गालीगलौज का ही साहित्य नहीं है। नाटक, कहानी, उपन्यास, कविता, लेख, संस्मरण, जीवन चरित सभी विधाओं में दलित साहित्यकार साहित्य सृजना की ओर अग्रसर हैं। दलित साहित्य का बहुआयामी व व्यापक फलक अब हमारे सामने है। बाबूराम, बागुल, दया पवार, सतीश कालसेकर, नारायण सुर्वे, शरण कुमार लिम्बावे, ओम प्रकाश वाल्मीकि, मोहनदास नैमिशराय, डॉ. एन. सिंह, डॉ. सी.बी. भारती, बी.एल.नय्यर, डॉ. पुरुषोत्तम सत्यप्रेमी, राधेलाल विजधावने का साहित्य सदियों के संताप, संघर्ष व जिजीविषा की ऊर्जा को अपने में संजोये हुए है। दलित साहित्य में आप शब्दों का लालित्य, प्रेम का अवसाद, कोरा रोमांस, आध्यात्मिकता के रासरंग, अलंकारों व छन्दों की दिमागी कसरत नहीं पाएंगे, अपितु पाएंगे यातना व त्रासदी से उपजे गरम सुलगते सवाल व एक सशक्त साहित्यिक हस्तक्षेप।

दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र साहित्यिकता का मोहताज नहीं है, अपितु इसकी जीवनशक्ति है घटनाओं की जीवन्तता व उनकी प्रामाणिकता तथा इसका प्रयोजन है दलित चेतना व सामाजिक न्याय की भावना का निरन्तर विकास। दलित-पीड़ा को सफल अभिव्यक्ति प्रदान कर दलित ने अपने सौन्दर्यशास्त्र की सार्थकता को प्रमाणित कर दिया है। उधार की परम्परागत सौन्दर्य दृष्टि से दलित साहित्य सौन्दर्य निरूपण कठिन ही नहीं असम्भव भी है। परम्परागत बासी पड़ चुके निर्जीव मानदण्डों को तोड़कर ही दलित साहित्य ने अपना सौन्दर्यशास्त्र विकसित किया है। दलित साहित्य में उस व्यवस्था का स्वर मुखरित है जो एक मनुष्य को दूसरे मनुष्य से जाति के आधार पर छोटा बनाती है व उन्हें जीवनपर्यन्त उनके छोटेपन का अहसास कराती है। यह विद्रोह उनके विरुद्ध भी है जिन्होंने अपने कुत्सित स्वार्थों की पूर्ति हेतु कृत्रिम व्यवस्थाएं निर्मित कर सदियों से लाभ उठाया व अब भी साधनसम्पन्न व सुखद स्थिति में हैं तथा वह अब भी दलित समुदाय का शोषण कर रहे हैं।

दलित साहित्य की सार्थकता, स्थायित्व एवं अर्थवत्ता हेतु उसका स्वनिर्मित

सौन्दर्यशास्त्र अब पूर्ण विकास पर है। इसकी उपयोगिता व प्रासंगिकता का आकलन विभिन्न प्रतिष्ठित हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं द्वारा प्रकाशित किये जा रहे दलित साहित्य विशेषांकों व हिन्दी साहित्य में इसके सशक्त हस्तक्षेप व उत्पन्न हलचल से स्वतः किया जा सकता है। दलित साहित्य शब्दविलास का नहीं अपितु आवश्यकता का साहित्य है। डॉ. मुल्कराज आनन्द ने 11 नवम्बर सन् 64 को प्रगतिशील लेखक संघ के दिल्ली अधिवेशन में दलित साहित्य की उपादेयता को निम्न शब्दों में स्वीकारा 'आज हमारे देश में कोई सार्थक या उपयोगी लेखन हो रहा है तो अब दलित लेखन है।'

दलित-चेतना का आर्विभाव सदियों पुरानी बात है। वेदविरोधी नास्तिक दर्शन व अभिजात्य वर्ग की सामंती भाषा के विरुद्ध जनभाषा पाली, प्राकृत व अपभ्रंश में साहित्य सृजन से ही दलित चेतना का आर्विभाव दृष्टिगोचर होता है। पूर्वाग्रहयुक्त परम्परागत विचारधाराओं के संचालकों ने जहां तक और निजस्वार्थ के अनुकूल आध्यात्म व दर्शन की संरचना की, वहीं उन्होंने सामाजिक असमानता, धार्मिक पाखंड, अंधविश्वास, जातीय बिलगाव व अस्पृश्यता जैसी सामाजिक विद्रूपताओं को जन्म देकर उन्हें हवा दी है। इसी का परिणाम यह है/था कि इस देश का बहुसंख्यक समुदाय सामाजिक, आर्थिक व शैक्षणिक दृष्टि से शोषित व उत्पीड़ित किया जाता रहा।

दलित साहित्य की सौन्दर्य दृष्टि पृथक है। वह शोषण के मूलाधार ईश्वर के अस्तित्व को ही नकारता है

ईश्वर की मौत,
 उस दिन होती है,
 जब बनता है कोई मन्दिर या मठ,
 जहां बैठता है कोई,
 ठग, लुटेरा,
 गुमराह करने वाला।
 ईश्वर की मौत,
 उस दिन होती है,
 जब किसी महिला को बनना पड़ता है,
 देवदासी,
 जाना पड़ता है वेश्यालय।

मोहनदास नैमिशराय

दलित साहित्य का सौन्दर्य परम्परागत मिथकों को तोड़ने व नारी की पति परायण छवि को मिटाकर सहभागिनी का दर्जा प्रदान करने में है। इसका मूल मन्त्र है तथागत गौतम बुद्ध का वाक्य 'अप्प दीपो भव' अपने दीपक स्वयं बनो। दलित चेतना पाप-पुण्य व भाग्यवादी सोच को नकार कर विवेक व तर्क को महत्ता प्रदान

करती है। दलित साहित्य का आक्रोश सामाजिक अन्याय के विरुद्ध मुक्ति का संकल्प है। दलित साहित्य की रचनाधर्मिता व उसकी प्रतिबद्धता सामाजिक सरोकारों से सीधे जुड़ी हुई है। वह व्यवस्थाओं के दोहरे मानदण्डों पर एक तीक्ष्ण प्रहार है। इसमें उत्पादन की संस्कृति को महत्ता प्रदान की गई है। उपभोग व शोषण की संस्कृति के विरुद्ध क्रांति का आवाहन किया गया है। इसमें अन्याय व अत्याचार के विरुद्ध प्रतिरोध व प्रतिकार का स्वर प्रखर है। इसमें जनमानस से ओझल होते वीरांगना झलकारी बाई, राजा सातन पासी, राजा बिजली पासी, छत्रपति साहू महाराज, सरदार ऊधम सिंह, महात्मा गाडगे का गौरवगान भी है। दूसरे के आशियाने पर पांव रखकर ऊपर उठने की कुत्सित कूटनीति का पर्दाफाश कर समता संस्कृति को स्थापित करने का प्रयास ही दलित साहित्य का उद्देश्य है। सदियों से जिनकी अभिव्यक्ति रूढ़ियों व परम्पराओं का आश्रय ले उन्हें शिक्षा से वंचित कर भोथरी व कुन्द कर दी गई, उनके साहित्य के सौन्दर्य की परख उनकी अभिव्यक्ति की प्रखरता से ही आंकी जा सकती है। अभिव्यक्ति के माध्यम से चेतना जागृति कर पुरातन निर्मोकों का ध्वंस व निज के अस्तित्व का अहसास ही दलित साहित्य का प्रधान लक्ष्य है। दलित-चेतना के उभार व दलितों में आत्मविश्वास सम्बर्द्धन के लिये आरोपित लघुता के प्रति सही दृष्टिपात ही दलित साहित्य को सौन्दर्य प्रदान करता है। दलित साहित्य की पहचान है व्यवस्थाओं के प्रति आक्रोश व स्वर, पीड़ा की छटपटाहट व परिवर्तन के लिये सम्यक् संकल्प व समर्पित दृष्टि।

दलित साहित्य सौन्दर्य सड़ी-गली व्यवस्थाओं के प्रति व्यंग में निखर पाता है। दलित साहित्य के सर्जकों ने परम्परागत अभिजात्य प्रतीकों से अलग हटकर दलित जीवन से जुड़े प्रतीकों के माध्यम से अपनी बात कही है

फटे जूते सी,
जिन्दगी सीने के लिये,
चमड़ा काटता है वह,
किसी की जेब या गला नहीं।

लालचन्द राही

सीधे-सीधे गाली-गलौज से हट कर प्रतीकों के माध्यम से सामाजिक विद्रूपताओं के प्रति व्यंग की शैली दलित साहित्य के सौन्दर्यशास्त्र को एक नया आयाम प्रदान करती है

कोयल,
समाज, संस्कृति
और परम्पराओं के पिंजड़े में,
कैद है,
हिंस्र पशु और पक्षियों ने,

पंजे और चोंच मार कर,
उसकी आंखें, चेहरे
और तन की मांसपेशियां,
चोथ लीं

राधेलाल बिजधावने

मगर जोंक नहीं जानती
कि एक दिन,
उसका शिकार जरूर बिलबिलाएगा।
दर्द जब सह न पाएगा,
और खून घटता जाएगा,
तब जरूर वह गुस्साएगा!
और मसल दी जाएगी जोंक तब,
जोंक यह नहीं जानती।

डॉ. सी. बी. भारती

हरियाली के होने के वास्ते ठीक तरह से,
पौधों का उगना जरूरी है,
ठीक तरह से पौधों के उगने के वास्ते
जरूरी है कि माली तनिक अपना नजरिया बदले।
नर्मी लाये, प्यार का पानी बहाये,
और पथरीली धरती को कठोर होने से बचाये।
क्योंकि पौधे हमेशा
नम और नम्र जमीन पर ही,
उगा करते हैं।

बी. एल. नथर

तितली बाज नहीं थी,
दगाबाज भी नहीं थी वह,
नहीं पहुंचाई चोट उसने कभी,
न दिया धोखा किसी को
उसने कभी नहीं मारा हक किसी का,
स्वप्निल पथ पर पंखों को फैलाये,
उड़ती जाती थी वह।
तो भी बच नहीं पायी वह
शोषकों के खूनी डैनों से,

तार-तार,
कर दिये गए पंख उसके बार-बार,
तोड़ दिये गए उसके अधदिखे सपने सलोने,
उपजाकर फरेबी फितूर,
बनावटी असमानताओं की।

डॉ. सी. बी. भारती

शरण कुमार लिम्बाले की 'अक्करमाशी', मोहनदास नैमिशराय के 'अपने-अपने पिंजरे' आत्मचरित, ओम प्रकाश वाल्मीकि की कहानियां 'सलाम' व 'भय' आदि, डॉ. सी. बी. भारती की 'स्टेटस' व 'भूख' आदि, बी. एल. नय्यर की 'चतुरी चमार की चाट', पुन्नी सिंह की 'संवेदना' और 'प्रतिकार' में दलित साहित्य की जीवन्तता व सजीवता दर्शनीय है। दलित साहित्यकारों ने अपने काव्य में नीली आंखें, काली जुल्फें, झील सी आंखें, जैसे सुकोमल प्रतीकों के स्थान पर शोषण की त्रासद स्थितियों को बयां करने वाले प्रतीकों, पौधे, वटवृक्ष, बाज, जोंक, कोयल, फटा जूता, तितली आदि के माध्यम से अपनी बात कही है।

दलित साहित्यकार द्वारा स्वयं ही भोगी यातनाओं का अहसास कभी-कभी भाषाई तेवर के माध्यम से गाली-गलौज का भी प्रयोग करने में संकोच नहीं बरतता

'जाति' आदिम सभ्यता का,
नुकीला औजार है,
जो सड़क चलते आदमी को,
कर देता है छलनी,
एक तुम हो,
जो अभी तक इस 'मादरचोद' जाति से चिपके हो,
न जाने किस हरामजादे ने,
तुम्हारे गले में,
डाल दिया है जाति का फंदा,
जो न तुम्हें जीने देता है,
न हमें।

ओमप्रकाश वाल्मीकि

उसके सीने में दबी आग गलीज व्यवस्थाओं व भ्रष्टाचार को समूल जड़ से उखाड़ फेंकने के लिये उसे कचोटती है

कागजों पर खोदते हैं तो कुंए, सींचते हैं जो हमारी प्यास को।
खोदनी है अब हमें उनकी कबर, हाथ में अपने कुदालें सब उठा लो।

डॉ. एन. सिंह

रमणिका गुप्ता

हिन्दी दलित साहित्य रचना और विचार इतिहास एवं दिशा

ऐसे दलित साहित्य की परिभाषा दो ढंग से की जाती है, लेकिन प्रचलित और मान्य परिभाषा जो मराठी दलित साहित्य में की जाती है, वह दलितों द्वारा दलितों के सम्बन्ध में दलितों के लिए लिखा गया साहित्य है। इस साहित्य में रचनाकार वर्णवादी व्यवस्था में भोगे हुए सच के आधार पर कल्पना की कलम से जिन्दगी की कडुवाहट की इबारत सदियों से दबे आक्रोश के साथ उलीचता है। वह मुलम्मा चढ़ा कर या चीनी के खोल में लिपटी कैप्सूल में, अपने पर हुए बर्बर सामाजिक एवं धर्मान्ध अपमानों, अत्याचारों को समाज के सामने पेश नहीं करता, बल्कि वह उन्हें उसके मूल कडुवेपन में ही परसता है; यूं कहें कि यह उस सदियों से संचित कडुवाहट को उतनी ही शिद्धत से उन्हीं के मुंह पर थूकने की जिद करता है, जिन्होंने सदियों से उसे तिरस्कृत किया, अपमान झेलने को मजबूर किया। हिन्दी भाषी क्षेत्रों में दलितों के बारे में अन्य वर्ग के लोगों द्वारा लिखी गयी रचनाओं को भी दलित साहित्य मानने के लिए आग्रह रहा है। हिन्दी क्षेत्र में दलित साहित्य उस स्तर व मात्रा में नहीं लिखा गया जितना मराठी भाषा में। संभवतः यह खींचातानी की प्रवृत्ति उसी का परिणाम है। विडम्बना तो यह है कि इस क्षेत्र में दलितों द्वारा लिखे गए इस शती के दलित साहित्य में भी वह आक्रोश नहीं, भोगे हुए सच का वह तेवर नहीं, जो हमला करता हुआ-सा नजर आए। बल्कि उसका तेवर शुगर कोटिड-पिल की तरह है। संकेतों की भाषा में कुछ कहने की प्रवृत्ति है, जैसे कि कोई बचाव कर रहा हो, या सहमा-सा, भयभीत-सा स्पष्ट कहने से डरता हो, जबकि जरूरत हमले की है। आज के लेखन से कहीं अधिक धारदार तेवर तो कबीर के हैं जब वे कहते हैं

‘तु कत बामन हम कत सूद्र

हम कत लूहू तुम कत दूध’

वह सीधे ब्राह्मणवाद पर चोट करते हुए कहते हैं

‘जो बामन तू बामनी जाया

आन बाट काहे नहीं आया।’

गुरु नानक ने भी सोपानी व्यवस्था को नकारते हुए कहा

‘खत्री ब्राह्मण सूद्र वैश, उपदेश चौ वरणों के सांझा।’

आधुनिक साहित्य के इतिहास में देखा जाय तो लम्बे अन्तराल के बाद हिन्दी में एक दलित लेखक हीरा डोम की कविता भोजपुरी में महावीर प्रसाद द्विवेदी ने ‘सरस्वती’ में 1914 में छपी थी। वह वर्णवादी व्यवस्था की मार्मिक दशा का विवरण देती है और गुस्सा पैदा करती है

हमरी के इनरा के नगिचे नाजा इलेजा

पांके में से भरी-भरी पीअतनी पानी

पनही से पिटि-पिटि हाथ गोड़ तुरि दहले

हमनी के एतनी काहे के हलकानी?

हीरा डोम अपनी कविता में आगे भगवान को ‘भगवनवा’ कह कर सम्बोधित करते हैं और उलाहना देकर कहते हैं शायद उन्हें डोम मान कर भगवान भी छूना नहीं चाहते। वह कबीर की तरह भी पूछते हैं कि ‘हमारा शरीर भी ब्राह्मण ठाकुरों की तरह हाड़-मांस का बना है, फिर क्या कारण है कि वह लोग तो पूजे जाते हैं, पर हमारी पूजा जूतों से की जाती है।’ इसके बाद लम्बे अरसे तक गैर-दलित लेखकों की रचनाएं अप्राप्य हैं। ऐसे तो शायद अनेकों दलित लेखक हुए होंगे, पर साहित्य पर अभिजातों के कब्जे के कारण कोई दलित साहित्य नहीं पनपा। ना ही किसी ने लोक-साहित्य की खोज या शोध कर ऐसे दलित लेखकों को अपने साथ जोड़ने की चेष्टा की।

इस सन्दर्भ में निराला जी की ‘चतुरी चमार’, ‘कुल्टी भाट’, ‘बिल्लेसुर बकरीहा’ में भी दलित चेतना के शुरुआती संकेत मिलते हैं। प्रेमचन्द की ‘कफन’ कहानी जहां घीसू और माधव की दयनीय स्थिति का वर्णन करती है। वहां उनकी मानसिक जड़ता, संवेदनशून्यता पर भी प्रश्न उठती है। ‘गोदान’ में उनकी वही दलित-चेतना, दलित-आक्रोश का रूप धारण कर लेती है, जब चमार टोली के लोग दातादीन पंडित के मुंह में गाय की हड्डी टूंस देते हैं, चूंकि उससे एक दलित लड़की सिलिया को पेट रह गया था। ‘सद्गति’ में दलित की असहाय स्थिति है, तो ‘ठाकुर का कुंआ’ में उस चेतना का दूसरा तेवर। प्रेमचन्द की ‘रंगभूमि’ के ‘सूरदास’ और धूमिल का ‘मोचीराम’ भी गैर-दलितों के साहित्य में एक सक्षम हस्ताक्षर है। पिछले दशक में बाबा नागार्जुन की ‘हरिजन गाथा’ कविता, जो बिहार के बेलछी कांड के बाद लिखी गयी थी, भी दलितों के वर्तमान और भविष्य की चिन्ता जाहिर करती है। मन्नू भण्डारी का ‘महाभोज’ उपन्यास भी उसी कड़ी में आता है। पर वह सब हमदर्दी का साहित्य है भोगे हुए सच का नहीं।

दलित साहित्य में अभी भी कुनीन को कुनीन रूप में सामने रखने की, परखने की दरकार है, ताकि जिस कुनीन को दलित सदियों से पी-पी कर हीन बने, हाथ जोड़ते रहे हैं, उसकी कडुवाहट से, पिलानेवाले जरा परिचित हों और उसे खत्म करने के संघर्ष में साथ आने की जरूरत समझने लगे। इसमें दलितों को आगे आना होगा। स्वयं दलित समाज को भी सर उठाकर चलने को कटिबद्ध होना होगा।

हाल के दिनों में कुछ दलित साहित्य जो सामने आ रहा है वह इन स्थितियों से रूबरू होने का प्रयास कर रहा है, भले तरीके अलग-अलग हों। कहीं गांधीवादी तो कहीं जनवादी, कहीं आक्रामक तो कहीं बीच-बचाव का (मध्यम मार्ग), कहीं वर्ग संघर्ष के माध्यम से तो कहीं सामाजिक बर्बरता की खिलाफत करके, कहीं राजनैतिक गोटीबाजों से सचेत करता हुआ रूझान, तो कहीं धर्म के नाम पर दंगेबाजों की पोल खोलता हुआ जो दलितों को मरवाने के लिए दलितों के हाथ में झंडा थमा देते हैं का रूझान विकसित हो रहा है। औरतों के यौन शोषण, नरसंहार के विषय तक इस साहित्य से अछूते नहीं रहे। 'पानी पर पैबन्द' बिहार में हुए नरसंहार पर विपिन बिहारी की एक मार्मिक कहानी है। 'दर्द', गिरिजाशंकर की लम्बी कविता इन्हीं की ललकार है।

साहित्यिक फलक पर बेलछी हत्याकाण्ड ने जहां नागार्जुन बाबा को लिखने के लिए प्रेरित किया तो वहीं बिहार और उत्तर प्रदेश में जगह-जगह घटी घटनाओं ने अनेकों लेखकों, कवियों को अभिव्यक्ति के नये स्वर दिये जो आक्रोश और संकल्प से भरे हुए हैं। जो मन को कहीं गहरे झकझोरते ही नहीं छूते भी हैं। जो साहित्य झकझोरता है, मन को छूता है, वही साहित्य है चाहे वह कितना भी अनगढ़ क्यों न हो पर प्राण तो फूंकने की क्षमता रखता है वह मुर्दे में भी। यहीं से शुरू होता है सिलसिलेवार दलित चेतना से ओत-प्रोत दलित साहित्य। लोक साहित्य में तो ऐसी अनेकों दलित रचनाएं होंगी पर वह साहित्य के मंच पर दर्ज नहीं हो पाईं। हीरा डोम की कविता के लम्बे अंतराल के बाद अस्सी के दशक के आस-पास दलित चेतना छिटपुट-छिटपुट उभरने लगी थी। पर दलित चेतना की नींव बिहार में हुए भूमि आन्दोलन भी रहे हैं और मण्डल आयोग के प्रचार के साथ-साथ, पेरियार के नक्शे-कदम पर चलाया गया जगदेव जी का धर्म-विरोधी, सवर्ण-विरोधी अभियान भी रहा है। इन्हें लोग बिहार का लेनिन भी कहते थे। रामविलास पासवान की दलित सेना का भी योगदान उसमें है भले जिस रूप में आज दलित चेतना उभरी है वैसी तब नहीं थी, पर उनकी ओर पहला जरूरी कदम थी। कांशी राम का उदय बसपा के रूप में दलित चेतना के लिए महत्वपूर्ण मोड़ माना जा सकता है। बसपा के डर से सभी पार्टियों ने दलितों को उछालना शुरू किया, जैसे मण्डल के सवाल को, उन पार्टियों ने भी बाद में अपनाया जो उसका कट्टर विरोध करती थीं।

बेलछी से भोजपुर, समस्तीपुर से हेन्देगढ़ तक की घटनाओं पर दर्जनों दलित रचनाएं साहित्य की किताब में दर्ज हो चुकी हैं। सवाल है उन्हें जुटाने का, सामने लाने का और साहित्य में उनको मान्यता दिलाने का। अभिजात लेखक वर्ग प्रायः इन रचनाओं को नकारता रहा है या इन्हें साहित्य ही नहीं मानता। वह उन रचनाओं को जो एक विशेष संकल्प और प्रतिबद्धता के दायरे में आती हैं, अपनी सदियों पुरानी कसौटी पर तौलता है जो दरअसल आज के युग में विशेषकर नस्लवाद, नारी मुक्ति, दलित चेतना के संदर्भों में अप्रासंगिक हो गयी हैं। वह नारी मुक्ति के साहित्य में अपने पुरुषोचित अहम को बरकरार रखता हुआ 'मैन शाउनिस्म' की प्रवृत्ति से ग्रसित होकर उसमें खोटी ही नहीं निकालता, उसे पूर्वाग्रह से ग्रसित पुरुष-विरोधी कहकर नकारता भी है। उसी प्रकार दलित चेतना के रचनाकारों को वह हेय दृष्टिकोण से ही नहीं देखता बल्कि उनके विरोध के स्वर को गाली की संज्ञा देता है वाहियात भी कहता है घृणा फैलाने और समाज-तोड़क, शान्ति-भंग करने वाला भी कहता है। क्या वर्ग संघर्षों में पूंजीवाद के विरुद्ध घृणा पैदा नहीं की जाती ताकि उसका खात्मा किया जा सके? क्या नस्लवाद की लड़ाई में गोरों के खिलाफ नफरत काम नहीं की है? क्या संस्कृत अभिजात साहित्य में असुरों के प्रति घृणा को बढ़ावा नहीं मिला? क्या रामायण में रावण, शर्पूनखा को घृणा का पात्र बनाकर राम ने वानरों को नहीं उकसाया? अगर दलित साहित्य में उसका पुट आ जाता है तो इतना बावेला क्यों? अब बारी सवर्णों की है कि वे उदार बन कर इस घृणा को भाईचारे और प्यार में बदल डालें।

जहां तक भाषा का सवाल है धीरे-धीरे इसकी भाषा भी संयमित हो जाएगी, जब मुक्ति की संभावना नजर आएगी। फिर हमने उन्हें सिखाया ही क्या है? हमने उन्हें गालियां ही सिखायी हैं। उनकी तो जाति भी गाली के रूप में इस्तेमाल की जाती है सदियों से अभिजात सवर्णों द्वारा। वे उन गालियों को अब लौटाने की कोशिश कर रहे हैं। कुछ दिन शौर्य, बुद्धि, भाषा, ज्ञान, सत्ता और संस्कृति के ठेकेदारों को सब्र करना होगा। नफासत उन्हें आती है जिनके पेट भरे होते हैं और जो प्यार, आदर तथा सम्मान पाते रहे हैं। ये दलित तो इन सबसे वंचित रखे गए थे। इसलिए सदियों से गाली देने के अभ्यस्त अभिजातों को अब गाली सहने की आदत भी डालनी होगी। दरअसल मनुवादी अभिजात वर्ग स्वयं उस तथाकथित पाले हुए व्यक्ति की तरह है जो मनुष्य को मनुष्य न मानने की, उस मानसिकता को भीतर ही भीतर पालता ही नहीं बल्कि पोसता भी है। ऊपर से अपनी उस संस्कृति के अनुरूप ही वह दोहरा चेहरा रखता है और 'वसुधैव-कुटुम्बम्' का नारा लगाकर मानव हित की बात करता है, पर मानव को सदियों से पशुवत रखने की घृणित व्यवस्था का पोषक भी वह ही रहा है। दरअसल ऐसे ही लोगों का साहित्यिक मंचों पर कब्जा है। इसलिए दलित साहित्यकारों

को अभिजात साहित्यकारों से अपनी रचनाओं के लिए सर्टिफिकेट लेने की मानसिकता पर रोक लगानी पड़ेगी। वैसे ही दलितों को मनुवादी धर्म के ठेकेदार ब्राह्मणवादियों से अपनी श्रेष्ठता का प्रमाण-पत्र लेना बन्द करना होगा। मन्दिरों में प्रवेश की लड़ाई बन्द कर, मन्दिरों और उनके देवताओं का बहिष्कार करना होगा उन्हें अप्रासंगिक बनाना होगा ठीक अभिजात शैली में उपेक्षित करके, जैसे सदियों से उन्होंने दलितों को उपेक्षित और अप्रासंगिक बनाए रखा है। दलित चेतना के साहित्य को अपनी कसौटी, अपने मापदण्ड खुद निर्मित करने होंगे, लेकिन उन्हें अपने लक्ष्य भी निर्धारित करने होंगे।

दलित-चेतना साहित्य दलितों में जागृति लाने और राम भरत पासी के शब्दों में 'एक संघर्ष है जड़ता के खिलाफ, और उनके भी जो शोषण और मानवीय मूल्यों के हनन की अपनी नियति माने सदियों से स्पंदनहीन हैं।' बाबूलाल मधुकर के शब्दों में तो दलित साहित्य के मायने हैं 'मेरे कलम पकड़ने का अर्थ है दुश्मन पैदा करना।' दयानन्द बटोही का विश्वास है कि 'दलित कविता आज के माहौल को चकाचौंध नहीं करती बल्कि नयी ऊर्जा देती है', 'जीवन संघर्ष में आदमी का सहारा बनकर जो हौसला दे वही तो कविता है। कविता कला से ज्यादा जीवन की अदम्य लालसा, गतिशीलता की संवाहक है' कहते हैं ओम प्रकाश वाल्मीकि। डॉ. एन. सिंह के शब्दों में 'कविता यदि जिंदा रहेगी तो वैचारिक सरोकारों से ही, अपने बारीक और पोख्ता शिल्प के कारण नहीं।'

दलित चेतना की सबसे पहली शर्त है उसका विरोध का स्वर, पीड़ा की छटपटाहट, आक्रोश का तेवर और उसके साथ ही कहीं उगता हुआ परिवर्तन के लिए एक संकल्प।

ओम प्रकाश वाल्मीकि की कविता जहां छटपटाहट कर फुंफकारती है 'मेरी रगों में/दहकने लगते हैं/यातना के कई हजार वर्ष एक साथ' तो वहीं आक्रोश में आकर कह उठती है 'न जाने किस हरामजादे ने/तुम्हारे गले में/डाल दिया जाति का फंदा/जो न तुम्हें जीने देता है/न हमें।' वहीं एक संकल्प भी लेता है कवि 'तमाम आस्थाओं और नैतिकताओं की रस्सी बनाकर जरूरी हो गया सागर मंथन/विध्वंस बन खड़ी होगी एक दिन नफरत/तुम्हारे दरवाजे पर/जहां तुमने उकेर रखे हैं शुभ चिह्न/अपशकुन से बचने के लिये।' डॉ. एन सिंह मनुवादियों का पर्दाफाश करते हुए कहते हैं 'समरसता की रामनामी ओढ़कर/वे फिर आ गए हैं।...नारायणपुर, बेलछी और पिपरा के अपराधी/कहीं ये ही तो नहीं हैं...गले लगाने की साजिश को समझो/भूलो मत कि ये वही हैं।' कंवल भारती ने बड़े ही सटीक शब्दों में दलितों को भटकने से सावधान किया है उनकी कमजोरियां बताकर 'शायद ऐसा हो/कि तुम्हारी अनुभूति अचानक हो गई हो मार्मिक/पढ़ या सुनकर कोई दलित हत्याकाण्ड कि तभी कोई

टुकड़ा सुख/जगा गया होगा परम्परा-बोध/और तुम्हारी शिराओं में रक्त थम गया होगा...' वे यह भी कहते हैं 'मुक्ति संग्राम जारी रहेगा/जब तक कि हमारे मुरझाये पौधों का सूरज उग नहीं जाता है।' राम भरत पासी कहते हैं 'उनकी नग्नता को/नहीं छुपा पाएंगे अब सदियों से बुने जा रहे शब्द जाल/क्योंकि हमें अब/आ गया है उगाना/सच।'

शरद कोकास सावधान करते हैं सवर्णों को 'रुको अट्टहास से आसमान मत गुंजाओ। समीकरण बदल रहे हैं अब/गनीमत है उलट नहीं रहे/शुक्र मनाओ।' 'हमारे श्रम के पुष्प फल पर कुण्डली मारकर बैठने के सिवाय/और क्या किया है तुमने?' कहते हैं बाबूलाल मधुकर। लालचन्द राही कहते हैं 'मोची की व्यथा में फटे जूते सी/जिन्दगी सीने के लिये/चमड़ा काटता है वह/किसी की जेब या गला नहीं।' हरकिशन सन्तोषी ने यहां तक कहा है 'इस देश में भगवानों का बंटवारा हो सकता है/तो क्यों/खेत खलिहानों का बंटवारा नहीं हो सकता।' आरक्षण में योग्यता की शर्त पर वे लिखते हैं 'पहले तो तुम्हीं ने काट दिये हाथ पांव हमारे/फिर तुम्हीं कहते हो दौड़ में आगे आओ/हमें जितना पीछे धकेला है तुम उतना आगे आने दो/तब चलाना योग्यता के तीर/तब हमारी छाती से टकरा-टकरा/तुम्हारे तीर वापस चले जाएंगे/तुम्हारे ही श्वास-मुख में घुस जाएंगे एकलव्य के तीरों की तरह।' इस सदी में हिन्दी दलित चेतना की शुरूआत हीरा डोम से हुई और उन्होंने ही ब्राह्मणों और दलितों के साथ दो तरह के व्यवहार की शिकायत भगवान से की। उन्होंने भगवान को भगवनवा कहते हुए कहा, कहीं वे भी तो छुआने से नहीं डरते।

शिवमूर्ति, ओम प्रकाश वाल्मीकि, प्रहलाद चन्द्र दास, अवधेश प्रीत, मदन मोहन, डॉ. दयानन्द बटोही, डॉ. एन. सिंह आदि दलित लेखन को मजबूती से छू रहे हैं, तो कोई दलित गैर-दलित भी दलितों पर गहरे सवाल उठाती कहानियां, कविताएं लिख रहे हैं।

प्रहलादचन्द्र दास की 'लटकी हुई शर्त' जो 'युद्धरत आम आदमी' में प्रकाशित हुई थी और 'नचनी काकी' जो 'हंस' में छपी थी वर्ण चेतना की अद्भुत कहानियां हैं जो छोटानागपुर के सामाजिक परिवेश में लिखी गई हैं। इस कहानी में दलितों की सुप्त वर्ण-चेतना के करवट लेने का, जगने का चित्रण है। कल का 'गंगाराम' गंगाराम कहलाने वाला, बाबुओं के घर में भोज पत्तल से उठाया जानेवाला पेटू गंगाराम एक प्रतिष्ठित गंगाराम बन जाता है गंवई समाज में। पर बाबुओं के लिए वह अछूत ही है। भले वक्त पड़ने पर वहां बाबू लोग उसी से कर्ज लेने आते हैं, चाहे बाप के श्राद्ध के लिए हो, चाहे बेटी के ब्याह के लिए। बाबू साहब की लड़की के ब्याह पर भोज का इन्तजाम किया जाता है फिर गंगाराम सहित सबको न्योता जाता है। पर गंगाराम एक शर्त रखता है कि भोज में दलित इसी शर्त पर शामिल होंगे कि सब एक साथ

खाएं। वह गांव में मुनादी पिटवा देते हैं अपने यहां उसी समय भोज में शामिल होने को पूरे गांव के लिए। इस प्रकार वह दलित समाज को अपमानित कर भोज में शामिल होने से रोकता है। यह गांधीवादी तरीका है बायकाट का, लेकिन अपने घर भोज रख कर एक व्यावहारिक पक्ष भी अपनाता है, कि कहीं खाने के लालच में दलित उधर न चला जाय। हालांकि यह कहानी का कमजोर पक्ष भी है पर है सत्य-पक्ष। यह शर्त रास्ता बदलती है, पर है एक व्यक्तिगत प्रयास ही। पूरे समाज का संगठित नहीं।

दूसरी कहानी ओम प्रकाश वाल्मीकि की 'पच्चीस चौके डेढ़ सौ'। कहानी नायक पहली कमाई लेकर बस से घर लौट रहा है, हर हाथ जोड़कर, झुक कर बातें करने वाले दीन-से, डरे से आदमी में उसे अपने पिता की छवि नजर आती है। वह अपने बचपन में पहुंच जाता है जब उसके पिता ने उसे स्कूल में पढ़ने डाला था। मास्टर का कितना अहसान माना था पिता ने। स्कूल में वह पच्चीस का पहाड़ा याद करता है, और घर जाकर दोहराता है पच्चीस चौका सौ, पिता बुरी तरह डांटता है कि गलत क्यों रट रहा है? पच्चीस चौका डेढ़ सौ होते हैं। गांव के चौधरी ने हमेशा उसे ऐसे ही गिनाया है जब उसने कर्ज का सूद उसे चुकाया है। चौधरी गलत नहीं बोल सकता। जब स्कूल में पच्चीस चौके डेढ़ सौ दोहराता है तो मास्टर उसे 'भंगी', 'संस्कारहीन' छोटी-जात कहकर गरियाता है। घर में 'डेढ़ सौ' और स्कूल में 'सौ' दुहराता वही बालक, आज वेतन लेकर पिता को सच बताने आ रहा है। मां वेतन को आंचल में प्रसाद मान कर लेती है। बेटा पच्चीस की चार ढेरियां लगाकर पिता को गिनना सिखाता है। पुत्र की मदद से रुपयों की चार ढेरियों को बार-बार गिनने पर रुपये डेढ़ सौ नहीं, एक सौ ही गिनाते हैं। तब वह बूढ़ा पिता जो बचपन और जवानी से आज बुढ़ापे तक उस चौधरी को पच्चीस चौका डेढ़ सौ की मान्यता पर सूद चुकाता रहा था, गुस्से से भर उठता है। गाली देता है 'तेरे कीड़े पड़ेंगे चौधरी'। यह कहानी संवेदना, भाषा तथा संकल्प स्तर पर बहुत ही सक्षम है। एक गाली में जन्म-जन्म का आक्रोश उगलती यह कहानी दलित चेतना को विकास में बहुत आगे ले जाती है, और बाबा अम्बेदकर के 'शिक्षा' के मंत्र को उजागर करती है। शिक्षा ने ही पच्चीस चौके डेढ़ सौ को पच्चीस चौके सौ साबित किया। बूढ़े पिता का वह आक्रोश दलित पीढ़ी को विद्रोह के कगार पर खड़ा कर देता है, विशिष्ट वर्ग के कहे को ब्रह्म वाक्य मानने को नियति के मिथक को तोड़ता है। यह कहानी एक साथ वर्ण और वर्ग चेतना से युक्त है।

अवधेश प्रीत की कहानी 'तालीम' में ग्रामीण स्कूलों में दलितों के निषेध की दर्दनाक कथा है। कहानी का नायक एक सरकारी शिक्षक है जो मुखिया, नेता, विधायक के साथ-साथ गांव के धर्मान्ध, भ्रष्ट, स्वार्थी तिकड़ी के रूबरू है। वह पार्टी से भी जुड़ा है। (इनके खिलाफ और जनता को भी गोलबंद करने का प्रयास करता है। पर वह दलित वर्ग को इतना सक्षम नहीं बना पाता कि विद्रोह कर पाता। वह स्वयं

व्यक्तिगत स्तर पर त्याग करता है और अपने स्थानान्तरण का सरकारी आदेश फाड़कर फेंक देता है। मुहसर टोली के बच्चों को उन्हीं की टोली में रहकर पढ़ाने का संकल्प लेता है। यह संकल्प नवयुवकों को एक प्रेरणा तो देता ही है, लेकिन सवाल उठता है कि क्या ऐसा होता है? क्या एक व्यक्तिगत प्रयास तक ही सीमित नहीं रह जाता? जब तक दलित वर्ग से उठा या बाहर से आया नेतृत्व उन्हें गोलबन्द कर हीन भावनाओं, समझौता-परस्ती या खुशामद की प्रवृत्तियों से राहत पाकर सन्तोष कर लेने के रूझानों को त्याग कर, उस समाज में खड़ा होने का इरादा पैदा नहीं करता, तब तक समाज में कुछ बदलाव की आशा नहीं की जा सकती। सांस्कृतिक क्रान्ति की तरह बढ़ने का रास्ता व्यक्तिगत प्रयास नहीं हो सकते, वह प्रेरक जरूर होते हैं।

मदन मोहन की 'हारू' कहानी एक दलित ट्रेड यूनियन नेता की है, जिससे उसका नेतृत्व वर्ग भी काम तो लेता है, पर उसे हल्के से लेता है या दो नम्बर का काम करने के लिए उकसाता है। कहानी में तो नेता होने पर भी पत्नी को 'गू मूत' उठाना पड़ता है माथे पर, इसका मलाल भी 'हारू' को है। वह अक्सर, नेता, पत्रकार से खफा है, पर उनकी चाल में फंस भी जाता है। भटक जाता है। और हारू मर भी जाता है, पत्नी भी उन सबकी हवस का शिकार बना दी जाती है। पर यह कहानी ट्रेड यूनियन की कहानी अधिक है। कोई भी नेता फिसल जा सकता है। दलित होने के नाते ही वह फिसला, यह जरूरी नहीं है।

शिवमूर्ति की कहानी 'त्रिशूल' में ग्वाले द्वारा अल्पसंख्यक को बचाने को लेकर कई अभिजात लेखक उन पर निकृष्ट जातीय साहित्य लिखने का आरोप लगा रहे हैं, जब कि यथार्थ यह है कि आज समाज में चेतना जग रही है, और दलित पिछड़ा वर्ग भी अपना दायित्व कुछ हद तक समझने लगा है। फिर सवर्णों की चाल भी समझ रहा है और अपने को वह उससे अलग ही रखना चाह रहा है। दरअसल यह सब द्विजों का सत्य नहीं है, इसलिए वह कहानी की मूल भावना को जान-बूझकर नकार रहा है। वह इसे जातीय रूप देकर जातीय कहानी सिद्ध कर साहित्य से अलग करना चाहते हैं। सदियों पहले लिखी अश्वघोष की 'वज्रसूचि' ने या कबीर ने जिस तरह मनु के वर्णवाद पर, सीधा हमला किया था वह तेवर हिन्दी साहित्य में अभी शुरू हो रहा है, उभरा है दलित लेखन में। ग्रन्थियों से, सामाजिक निषेधों से, और ब्राह्मणवादी दवावों से मुक्त करने की छटपटाहट या अमानवीय अपमानजनक जीवन जीने की मजबूरी पर गुस्सा प्रकट करती हुई, परम्परा को नकारती हुई कुछ रचनाएं सामने आई हैं, वह भी साहित्यिक खेमेबन्दी के चलते और हिन्दी क्षेत्र में भी एक अभिजन और सामन्ती रूझान के चलते, साथ-साथ उस मंच पर द्विजों के कब्जे के चलते भी, उस रूप में चर्चित नहीं हो पायीं, जिसके वह काबिल हैं। हिन्दी क्षेत्र के दलित लेखक उतने संगठित भी नहीं हुए, जो मराठी साहित्य में थे। अभिजन लेखक दलितों के लिए सब

कुछ चाहते हुए भी उनका लेखक या साहित्यकार होना स्वीकार करने को तैयार नहीं जैसे वह आज तक महिला लेखन को मूल साहित्यिक धारा की कसौटी पर कसने को, परखने को तैयार नहीं हैं। दलित लेखन को खुद कसौटी तैयार करनी होगी, तभी उनका साहित्य रचना स्तर पर अपनी सार्थकता के साथ-साथ, उनके समाज में चेतना जगाकर, संघर्ष से जोड़कर उनको अपनी हीन ग्रन्थियों से मुक्त कर, उन्हें समाज में बराबरी के दर्जे पर खड़ा होने की प्रेरणा देने वाला कालजयी साहित्य सिद्ध हो सकेगा। पुरानी कसौटी इस बदलते तेवर के ऐसे भी अनुकूल न है, न होगी।

दरअसल औरत को भी दलितों में शामिल करना चाहिए चूंकि दलित की तरह वह भी परजीवी है और अपने स्तर पर वह भी स्वयं कुछ नहीं सोचती। वह किसी भी वर्ग की हो या वर्ण की, दलित और पिछड़ी ही होती है। उसकी मानसिकता कुछ अपवादों को छोड़कर जड़ ही बनी हुई है। महिला लेखन में भोगे हुए सच का अधिक तीखा तेवर मिलता है। यहां भी सामाजिक निषेधों के चलते कुछ महिलाएं छिपाकर ढक कर लिखती हैं। वह संवेदना भले ही जगाती है, पर व्यवस्था के खिलाफ गुस्सा नहीं। ना ही अपनी स्थितियों के खिलाफ जंग करने की रूझान पैदा करती हैं। पर अपवादस्वरूप कुछ हैं जैसे इस्मत चुगताई, कृष्णा सोबती, कमला दास, अमृता प्रीतम, इनके जीवन वृत्तों और कहानी, उपन्यासों ने हिन्दी साहित्य को चौंकाया है। मथा भी खूब है। लेकिन पुरुष खेमेबन्दी कैसे अपने रहते किसी महिला को महान लेखिका की पदवी दे, जो उनके अस्तित्व को ही चुनौती देती हो। वह आंसू बहाने वाली करुणा जगाने वाली महिला लेखिकाओं को जरूर उछालते हैं। प्रभा खेतान की 'छिन्नमस्ता' ने भी काफी झकझोरा है। आत्ममुग्ध धर्मान्ध समाज को हिन्दू-मुस्लिम समाज के कर्णधारों को तसलीमा नसरिन के लेखन ने इस हद तक उत्तेजित कर दिया है कि उसे जान से मारने तक की धमकी मुस्लिम कठमुल्लाओं ने दी है और हिन्दू कठमुल्ला साम्प्रदायिकता भड़काने के लिए उसके लेखन का दुरुपयोग करने लगे।

मेरी कहानी की जिरवा भी बिरादरी से ऊपर उठाकर इज्जत की परिभाषा स्वयं गढ़ने लगती है। वह जूझती है, झुकती नहीं। जबकि उसकी मां समाज का शिकार हो जाती है। किन्तु मेरी परबतिया कहानी में औरत पति की सहायक बन कर खुद अपनी बहन का ब्याह अपने पति से जबरन कर देती है। वह पुरुष-संचालित उसी मानसिकता का प्रतीक बन जाती है, जो पुरुष मापदण्ड के अनुरूप श्रेष्ठ है, पर जिस मानसिकता को कालान्तर में परबतिया तोड़ती है।

कुछ समय पहले से ही उग्र वामपन्थी विचारधारा से जुड़े हुए लेखक गंवई परिवेश में दलितों को लेकर जो साहित्य लिखते हैं, उसके केन्द्र में अधिकांश आर्थिक मुद्दे ही होते हैं। कुछ विरल परिस्थितियों में दलित औरत के यौन शोषण के प्रसंग भी रहते हैं। पर दलितों की सामाजिक स्थितियों का अमानवीय स्वरूप विरले कभी

उजागर होता है। जबकि होना दोनों को चाहिए। भारत में वर्ग-संघर्ष और वर्ण संघर्ष एक दूसरे के पूरक हैं। क्या दलित का केवल आर्थिक शोषण ही होता है? क्या आर्थिक शोषण से कहीं अधिक पीड़ादायक यह नहीं है कि मनुष्य होने के बावजूद वे परम्परा से अपवित्र, यहां तक कि कलंकित, माने जाते हैं और जीवन में कभी इससे मुक्ति पाने की गुंजाइश भी नहीं रख सके। इस पहलू को केन्द्र में रखकर रचा साहित्य हिन्दी में इतना कम चर्चित हुआ कि नजरअन्दाज हो गया। या एक साजिश के तहत उसे नजरअन्दाज करने के लिए चर्चा ही नहीं की गयी। इधर कुछ सशक्त दलित रचनाएं हल-चल मचा रही हैं। ऐसे में संजीव की 'प्याज' कहानी में दलित औरत की वेदना का चित्रण है। 'हंस' में कई दलित कहानियां आ रही हैं, दलितों की अपनी 'हम दलित', 'दलित-यात्रा', 'नई लहरें', 'लोक-सूचक' आदि पत्रिकाएं उभरी हैं, जो दलित साहित्य को सामने ला रही हैं। पर इस लेखन को मूल साहित्य में लाने का काम भी करना होगा जो फुटकर दलित विशेषांकों के रूप में लघु पत्रिकाओं में आ रहा है। 'युद्धरत आम आदमी' और 'दस्तक' के दलित विशेषांकों का प्रकाशन इसी का प्रयास है।

दलित लेखन को धारदार बनाने के लिए अपने समाज के प्रेरणा स्रोतों से जुड़े रह कर, उनमें जाकर और उन्हें जमा कर अपने साहित्य को खड़ा करना होगा।

डॉ. पुरुषोत्तम सत्यप्रेमी भारतीय दलित साहित्य

किसी भी भाषा का साहित्य समाज-विशेष का दर्पण ही नहीं होता, अपितु नये समाज की संरचना के निर्माण की संकल्पना भी करता है। वह समाज की कमियों-त्रुटियों को भी दर्शाता है और उनके निराकरण एवं समाधान के उपाय भी सुझाता है। इस दृष्टि से साहित्य एवं रचनाकार केवल सूचक या सांकेतिक नहीं है अपितु सजग सचेतक भी है।

भारतीय दलित साहित्य की सर्जना एवं विचार माधुर्य-भूमिका को इसी परिप्रेक्ष्य में देखा जा सकता है। उसमें क्रान्ति एवं शान्ति का समन्वयकारी स्वरूप एवं उनकी रचनात्मकता से हमारा आशय, उस सामाजिक चेतना की अभिव्यक्ति से है जो शिक्षित, संगठित एवं संघर्षरत 'व्यक्ति-स्तर' और 'समाज-स्तर' पर 'अपना दीपक आप बनो' की आत्मिक संचेतना को अपनाएं। वह लिंग-जाति-वर्णभेद को अस्वीकार कर अस्पृश्यता, तिरस्कार, शोषण, उत्पीड़ना, यातना एवं अलगाववाद के हिमायती ब्राह्मणवाद और उसकी पक्षधर पारम्परिक समाज व्यवस्था के प्रति आक्रोश, विद्रोह की भावना से निषेध के आधार पर नये जनतांत्रिक समतावादी समाज की संरचना के निमित्त स्वतंत्रता, समानता, न्याय एवं बन्धुता के संवैधानिक मूल्यों के परिप्रेक्ष्य में सृजनात्मक क्रान्ति चेतना के पथ पर सक्रियता से अग्रसर हो। वस्तुतः दलित साहित्य 'संवेदना से विचार की ओर' की सृजनात्मक क्रान्ति-चेतना का ऐसा साहित्य है जो मानव के लिये मानव की दासता-पराधीनता से मुक्ति के द्वार पर दस्तक देकर 'मानव मात्र की मानव के रूप में मानव-समाज में सामाजिक प्रतिष्ठा' के लिये सक्रिय संकल्पना है और यही संचेतना एवं संग्रथन की भीम ज्योति है तथा माधुर्य-दृष्टि का मंजुल-पुष्पगुच्छ भी है।

सामाजिक परिवर्तन एवं नये जनतांत्रिक समाजवादी समाज की संरचना अपने आप में एक जटिल समस्या है। आंख झपकने में सामाजिक बदलाव आ जाएगा एवं 'मात्र मनुष्य' और 'मनुष्य मात्र' की प्रतिष्ठा का समाज बन जायगा, यह सोचना स्वयं को भ्रम में रखना होगा। यह सत्य है कि तन की खुली हुई आंखों से केवल वर्तमान

परिस्थितियों को ही देखा जा सकता है, उसकी दशा एवं दिशा में अनुकूल और सुयोग्य परिवर्तन लाने के लिये मन को खोलना आवश्यक है। इस तीसरी आंख को केवल शिक्षा-विवेक-प्रज्ञा की संचेतना द्वारा ही खोला जा सकता है जिसके द्वारा संस्कारिता होने की ललक ही नहीं अपितु संस्कारित करने की भावना का भी उदय होता है। इस मन की आंख को खोलने के निमित्त ही युगदृष्टा क्रान्तिचेता बाबा साहेब डॉ. भीमराव अम्बेडकर ने शिक्षित बनने, संगठित रहने एवं संघर्ष करने का मूलमंत्र महामन्त्र अपनी मानवीय अस्मिता को स्थापित करने के लिए शोषित-पीड़ित-उपेक्षित दलित समाज को दिया था।

डॉ. भीमराव अम्बेडकर ने कहा था कि 'जब तक हमारे बीच हिन्दू, सिन्धी, या मद्रासी इत्यादि के मतभेद रहेंगे, हम कभी अपनी राष्ट्रीयता की उन्नति नहीं कर सकते।' इसलिए वे 'ब्राह्मणवाद' के विरोधी थे और ब्राह्मणवाद से उनका आशय उन्हीं के शब्दों में 'ब्राह्मणवाद से मेरा अर्थ एक समुदाय के रूप में ब्राह्मणों की शक्ति, हितों तथा विशेषाधिकारों से नहीं है। यह मानना नहीं है कि जिसको लेकर मैं इस शब्द का प्रयोग कर रहा हूँ। ब्राह्मणवाद से मेरा अभिप्राय स्वतंत्रता, समानता और बन्धुत्व-भ्रातृत्व-भाव की भावना के निषेध से है। इस अर्थ में ब्राह्मणवाद सभी वर्गों में व्याप्त है और मात्र ब्राह्मणों तक ही वह सीमित नहीं है यद्यपि यही लोग उसके जन्मदाता रहे हैं। ब्राह्मणवाद के प्रभाव सामाजिक अधिकारों जैसे अन्तर्जातीय खान-पान और विवाह तक सीमित नहीं थे बल्कि उसने लोगों को नागरिक अधिकारों से भी वंचित रखा है। वस्तुतः अस्पृश्यता-वर्जनाओं इसके साथ मत खाओ, इसको स्पर्श मत करो एवं इसके साथ विवाह मत करो की प्रस्तुत सम्पन्न व्यक्ति एवं शक्ति के ब्राह्मणवाद से मुक्ति के जनतांत्रिक समाजवादी समाज की संरचना का स्वप्न ही समाज वैज्ञानिक डॉ. भीमराव अम्बेडकर ने संजोया था जिसकी साकार परिणति दलित साहित्य की सामाजिक शक्ति की सृजनात्मक क्रान्ति-चेतना से ही सम्भव है।

बाबा साहेब डॉ. भीमराव अम्बेडकर की समाज व्यवस्था सम्बन्धी कल्पना में समाज के लोगों का मानसिक परिवर्तन करके उनमें समानता, स्वतंत्रता एवं बन्धुता की भावना भर देना अभिप्रेत था और इसलिए समाज परिवर्तन के लिए उनकी पुराण-पंथी शास्त्रों एवं समाज व्यवस्था के प्रति विद्रोह, निषेध के सामाजिक न्याय की बात को लेकर जहां कहीं भी चर्चा होती है तो उसका श्रेय डॉ. भीमराव अम्बेडकर को ही जाना चाहिए किन्तु यह भी ध्यातव्य है कि केवल समानता एवं सामाजिक न्याय की रट लगाकर ही समाज में समानता एवं बन्धुता की भावना नहीं लाई जा सकती। यदि ऐसा हो भी गया तो वह औपचारिकता मात्र होगी कागजी या दस्तावेजी ही होगी, व्यावहारिक धरातल पर स्थायी नहीं होगी, इससे वे भली भांति परिचित थे और इसीलिए उन्होंने अपनी जीवन-दृष्टि को इस प्रकार व्यक्त किया है मेरा सामाजिक

तत्वज्ञान तीन शब्दों में ही समाविष्ट किया जा सकता है। वे शब्द हैं स्वतंत्रता, समता व बन्धुत्व। मेरा यह तत्वज्ञान ही अपना है, इसे मैंने फ्रांस की राजक्रांति से अपनाया है यह न समझा जाये, क्योंकि मेरे इस तत्वज्ञान का मूल धर्म में निहित है न कि राजनीति में। मेरे गुरु बुद्ध हैं। उनकी शिक्षा से ही मैंने इस तत्वज्ञान को अपनाया है। तत्वज्ञान का अतिक्रमण न करें इसीलिए केवल संरक्षण के लिहाज से उसमें प्रतिबन्ध को स्थान है। तथापि, स्वतंत्रता और समता के सम्बन्ध में होनेवाले अतिक्रमण के लिए मैं हामी नहीं भर सकता। मेरे तत्वज्ञान में बन्धुत्व को ऊँचा स्थान है। स्वतंत्रता और समता के विरुद्ध संरक्षण केवल बन्धुत्व भावना के कारण ही सम्भव है। इसका ही दूसरा नाम बन्धुत्व अथवा मानवता है और यही धर्म का दूसरा नाम है।

डॉ. भीमराव अम्बेडकर के अनुसार जिन नियमों से समाज का निर्माण होता है, वही युगधर्म है सद्धर्म है। लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक भी ऐसा ही मानते थे किन्तु एक प्रश्न बनता था कि क्या भारतीय हिन्दू समाज जिस आचार-विचार को धर्म कह कर उसका पालन करता था वह सद्धर्म ही था या कुछ और? क्योंकि अम्बेडकर के ही शब्दों में एक वर्ग विद्या अर्जित करे, दूसरा वर्ग अस्त्र चलाये, तीसरा वर्ग व्यापार करे, चौथा वर्ग केवल दूसरों की सेवा ही करे ऐसा धर्म मुझे अमान्य है। व्यक्ति के विकास में तीन बातों का होना आवश्यक है और वे हैं सहानुभूति, समता और स्वतंत्रता। क्या इनमें से एक भी पद दलितों को प्राप्त थी? इसलिए उन्होंने आदमी-आदमी में भेद करने वाले हिन्दू धर्म को त्यागकर मानव-मानव में बन्धुत्व एवं समानता का सन्देश देनेवाले भारतीय जमीन में पैदा होकर भी विश्व के विकसित-उन्नत राष्ट्रों की रीढ़ बने, हृदय बने, बौद्ध धर्म को स्वीकार किया था जिसमें समता ही धर्म-बन्धुत्व का आधार है। इसलिए उन्होंने कहा 'मनुष्य का यह जन्मसिद्ध अधिकार है कि वह सम्मानपूर्वक जीवनयापन करे। हम इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए बड़े से बड़ा बलिदान करने के लिए कटिबद्ध हैं, हम मानव-सम्मान के लिए संघर्ष कर रहे हैं जिसका हिन्दुओं ने हमारे लिए अभी तक निषेध कर रखा था। हम अपने जीवन को उतना पूर्ण और सुन्दर बनाना चाहते हैं जितना सम्भव हो सके और इसीलिए धर्म मनुष्य के लिए है न कि मनुष्य धर्म के लिए।' यह उद्घोष करने वाले बाबा साहेब डॉ. भीमराव अम्बेडकर ने बन्धुत्व अथवा मानवता अथवा मनुष्य धर्म पर संविधान समिति की बैठक के समापन भाषण में बहुत ही प्रभाशाली भाषा-शैली में स्पष्ट कहा था कि 'बन्धुत्व की भावना को हमने समझा नहीं है। हम सारे हिन्दुस्तानी भाई-भाई हैं, एक ही परिवार के सदस्य हैं। ऐसी भावना से सामाजिक जीवन में एकता और अखण्डता पैदा होती है। भारत में कई जातियाँ हैं इससे राष्ट्र विरोध भी पनपता है, इसकी वजह से सामाजिक जीवन में दरार पैदा होती है। यदि हमें सही मायने में राष्ट्र के रूप में उभरना है तो इन अवरोधों को समाप्त करना होगा। कई वर्षों से राजसत्ता

मुट्ठी-भर लोगों के हाथों में ही रही है। इनके प्रभुत्व से बहुसंख्यक लोगों को अपनी प्रगति और उत्थान के अवसर प्राप्त नहीं हुए थे। इससे उनके जीवन का सत्य ही नष्टप्राय हो गया था। दलितों में इस भावना से कहीं वर्गसंघर्ष पैदा न हो जाए इसकी मुझे सावधानी बरतनी होगी...ऐसा न हुआ तो घर में कलह शुरू हो जाएगी और जिस घर में फूट पड़ जाए वह घर अधिक समय तक टिक नहीं सकता।'

इस प्रकार भारत के दलित समाज की आकांक्षा को सफल करने के निमित्त उन्होंने इन मुट्ठी-भर सवर्ण वर्जनाओं की चौखट में सिर खपाने वाले लोगों से सहयोग करने की अपील की थी। यही उनके हित में भी था और उसी में राष्ट्र का कल्याण भी निहित था जिसमें संविधान की स्वतंत्रता और लोकतंत्र की सुदृढ़ता भी निहित है। सचेत एवं सजग सृजनात्मक क्रांति चेतना के पक्षधर डॉ. भीमराव अम्बेडकर का मानना था कि यदि बंधुत्व-भावना नहीं होगी तो इस बात की क्या गारंटी होगी कि सबल लोग दुर्बलों का शोषण नहीं करेंगे? इस दृष्टि से समाज में यदि एकता का भाव न हो तो देश की स्वतंत्रता को खतरा हो सकता है।

दुनिया में पूंजीवादी समाज रचना में यही देखने को मिलता है कि यहां स्वतंत्रता के आखिरी छोर पाने की होड़ में कुछ गिने-चुने लोगों ने ही समता को मटियामेट कर दिया है। समाजवाद के रूप में स्वतंत्रता के विरुद्ध एक प्रक्रिया प्रारम्भ हो गई है। रूस आदि साम्यवादी देशों में समता के लिए स्वतंत्रता को संकुचित किया गया है। हमारे देश में भी वर्णाश्रित साम्प्रदायिकता से अनुप्रेरित जातिवाद एवं समता को संकुचित किया गया जिसका बड़बोलापन एवं बोलबाला स्वतंत्रता एवं लोकतंत्र शासन प्रणाली के अनेक दशक बीत जाने के बाद भी बना हुआ है। इसलिए डॉ. भीमराव अम्बेडकर ने स्वतंत्रता एवं समानता की नींव का पत्थर बंधुत्व को माना है और यह बंधुता की भावना जिस समाज में जितनी अधिक होगी, वह समाज और वह राष्ट्र उतना ही सुदृढ़ एवं सफल होगा। समृद्ध होगा और शांतिगामी होगा। बाबासाहेब अम्बेडकर के शिक्षित, संगठित एवं संघर्षरत समाज के सपने में भारत की प्रेरणा में महात्मा बुद्ध का संघदर्शन ही सक्रिय जान पड़ता है। आज से हजारों वर्षों पहले भारत-भूमि के लाल विश्ववंद्य बने गौतम बुद्ध ने अनेक जातियों के लोगों को एकत्र कर उन्हें दीक्षित करते हुए कहा था 'हे भिक्षुओं आप लोग अलग-अलग जगह और जातियों से आये हो। इस तरह अपने-अपने प्रदेशों में नदियां बहती हैं तब वे अलग-अलग रहती हैं पर जब वे सागर में गिरती हैं तो अलग-अलग नहीं रह जातीं। संघर्ष भी ऐसे ही सागर के समान है जिसमें सभी समान हैं।'

अतः समाज में अस्पृश्यों दलित समाज को सामाजिक न्याय के आधार पर स्वतंत्रता एवं समानता के हक-अधिकार दिलाने और भारत देश को गणतंत्र संघ राज्य के रूप में प्रतिष्ठित करने के लिए उन्होंने आजीवन संघर्ष किया है। यही संघर्ष दलित

साहित्य एवं उसके रचनाकारों के द्वारा, सृजनात्मक क्रान्ति-चेतना के रचना-कर्म द्वारा आज की सम-सामायिक स्थिति में भी गतिमान बना हुआ है जिसकी सक्रियता एवं निरन्तरता पर उंगली उठाने वालों को आज नहीं तो कल अवश्य पुनर्विचार कर हथेली पर उतरे सूरज की तरह साक्षात्कार करके स्वीकार करना ही होगा।

भारतीय दलित साहित्य की सामाजिक शक्ति की सृजनात्मक क्रांति चेतना का उभार स्वातंत्र्योत्तर समय में हुआ परन्तु अंकुरण एवं पल्लवन में महाराष्ट्र की सामाजिक दशा का विशेष योगदान रहा। मध्यप्रदेश में जन्मे किंतु महाराष्ट्र में पले-बढ़े डॉ. भीमराव अम्बेडकर की दलित चिन्तनधारा में महात्मा बुद्ध, महात्मा कबीर एवं महात्मा ज्योतिराव फुले की सामाजिक परिवर्तन एवं सामाजिक न्याय विचारधारा को प्रबलतम प्रेरणा-स्रोत के रूप में देखा जा सकता है किंतु मो.म. कुलकर्णी ने लिखा कि दलित साहित्यकार अपनी परम्परा का ब्यौरा देते समय बुद्ध-कबीर-फुले का उल्लेख करता है लेकिन दलित साहित्य के वास्तविक प्रेरणा स्रोत डॉ. अम्बेडकर ही हैं। शिक्षा में प्रबुद्ध बन रहे दलित युवकों में अपनी स्थिति और सामाजिक व्यवस्था को लेकर जो असन्तोष एक अरसे से पनप रहा था उसे अम्बेडकर के मंत्र 'एज्युकेट, आर्गनाइज, एजीटेड' से एक दिशा मिल गई। इस असन्तोष की तीखी और सीधी अभिव्यक्ति साहित्य के जरिए सर्वाधिक हुई। दया पंवार, सोन कांबले, केशव मेश्राम, लक्ष्मण, माधव माने, कोंडविलकर आदि रचनाकारों ने जो विचारोत्तेजक साहित्य लिखा है, वह उनके प्रत्यक्ष और निजी अनुभव संयोग से बहुत तीक्ष्ण बन गया है। मराठी-भाषी साहित्यकार सदा कन्हाड़े के विचार में इस तरह की रचनाओं की प्रेरणा नीग्रो साहित्य है। नीग्रो लोग रंगभेद का अभिशाप झेलते रहे जबकि भारतीय अस्पृश्य भी वर्णभेद के शिकार रहे। अपने अधिकारों के लिए लड़ रहे नीग्रो लेखकों ने दलित लेखकों को बहुत बल प्रदान किया। इस प्रकार 'दलित साहित्य' की अवधारणा का प्रादुर्भाव मराठी भाषी साहित्य में सर्वप्रथम हुआ।

भारतीय समाज की दशा और दिशा में स्वतंत्रता के पश्चात् परिवर्तन हुए और संघर्ष के विविध आयाम भी उद्घाटित हुए जिसके परिणामस्वरूप दलित साहित्य लेखन एवं प्रकाशन की परम्परा शुरू हुई। महाराष्ट्र के ही गोपाल बाबा बलंगकर पहले दलित पत्रकार थे जिन्होंने शोषित-पीड़ित-दलित समाज की यातना-वेदना को साहित्य में स्थान दिया। मराठी दलित साहित्य के विकास में कुछ पत्र-पत्रिकाओं की भूमिका भी बहुत महत्वपूर्ण रही, उनमें से औरंगाबाद से प्रकाशित 'अस्मितादर्श' प्रारम्भ से ही दलित साहित्य आन्दोलन को समर्पित रहा। इस मराठी जमीन में जन्मे एवं पनपे दलित साहित्य आन्दोलनों के चिन्तकों-विद्वानों एवं प्रवक्ताओं के अनुसार दलित साहित्य की कल्पना साठोत्तरी युग में अधिक विकसित हुई थी, विशेषकर महाराष्ट्र में जब स्वतंत्रता प्राप्ति के पूर्व देखे गए सपनों के स्थान पर उत्पीड़न अधिक महसूस

किया गया। यद्यपि अत्याचार-दलित यातना का वातावरण देशव्यापी था परंतु महाराष्ट्र के बाहर नामदेव ढसाल या राजा ढाले जैसे दलित समाज से ही लेखक और कवि नहीं थे यदि थे भी तो गुमनामी के अंधेरे में डूबे थे या फिर संवेदनशील होने के उपरान्त भी गूंगे एवं बहरे बने हुए थे। सन् 1956 में बाबा साहेब डॉ. भीमराव अम्बेडकर द्वारा किये गए 'धम्म चक्र' परिवर्तन के पश्चात् दलित साहित्य का मूलभूत स्वरूप ही परिवर्तित हो गया था। दलित-समाज के मनुष्य जीवन का दलित साहित्यकारों द्वारा किये गए चित्रण और दलित जीवन की स्थितियों की कल्पना के आधार पर दलितेत्तरों द्वारा किए गए चित्रण को दलित साहित्य कहना दलित साहित्य की संकल्पना पर अन्याय करना है और प्रत्यक्ष रूप से साहित्यिक स्तर पर भी शोषण करता आ रहा है। यहीं पर यह बात भी विचारणीय है कि दलित साहित्य एवं उसके रचनाकार की निष्ठा केवल अछूत, दलित, अनुसूचित जाति-अनुसूचित, आदिवासी एवं पिछड़े वर्ग की सूची में शासकीय प्रावधान के अनुसार सम्मिलित जातियों तक ही सीमित नहीं है अपितु सम्पूर्ण शोषित-पीड़ित दलित समाज-अवर्ण समाज के 'मनुष्य मात्र' की यातना शोषण-उत्पीड़न एवं प्रतिष्ठा की भावना से भी सम्बन्धित है।

डॉ. वेदप्रकाश अमिताभ ने 'ज्योत्स्ना' अक्टूबर, 1988, में लिखा है कि 'यद्यपि दलित साहित्य आर्थिक शोषण का विरोधी है, धार्मिक व्यवस्था को अस्वीकार करता है फिर भी मार्क्सवादी दृष्टि से इसका सामंजस्य स्थापित नहीं हुआ। यह अजीब सा लगता है कि दलितों के आक्रोश को बुद्ध की करुणा से अधिक आश्वस्त मिली है। दलित साहित्य का केन्द्रीय स्वर 'विद्रोह' है जो रूढ़ियों के प्रति तो है ही वर्तमान में व्यवस्था के प्रति भी कम नहीं है। यह विद्रोह अहिंसक किस्म का नहीं है। जे. वी. पंवार ने एक कविता में लिखा है खूंटी पर टंगे हथियारों की दिशा में हाथ उठ रहे हैं। अब मैं ही समन्दर हो गया हूं। उठान और तूफान बन रहा हूं। तुम लोगों की कब्रें बांधने शहर निकला हूं। 'दलित साहित्य केवल निषेध का साहित्य नहीं है, वह ध्वंस का साहित्य भी है।' दया पंवार कृत 'बलुत', लक्ष्मण माने कृत 'उपरा' आदि आत्मवृत बाबुराव बागुल कृत 'जेन्हा की जात चोरली होती', खरात कृत 'सांगाबा', आदि कहानियों और व्यम्बक सपकाले, दामोदर मोरे, अर्जुन डांगले, नारायण सुर्वे, डॉ. रोहीदास बाघमारे की एक कविता, सावली आदि की कविताएं इस संदर्भ में द्रष्टव्य हैं। इन रचनाओं ने न केवल देश के दलित लेखकों अपितु प्रबुद्ध संवेदनशील और प्रतिबद्ध दलितेत्तर लेखकों को भी पर्याप्त प्रेरणा दी है। मराठी दलित साहित्य के रचनाकारों के विषय में डॉ. चन्द्रकांत बांदीवडेकर की यह टिप्पणी अधिकतर दलित साहित्य एवं उसके दलित-दलितेत्तर रचनाकारों पर भी सटीक प्रतीत होती है, 'प्राणों की बाजी लगाकर लड़ने वाले योद्धा के तेवर में वे लिखते हैं। ऐसी व्यवस्था वे चाहते हैं जो न्यायोचित विकास का अवसर दे सके जाति, वर्ण, अर्थ के नाम पर किसी प्रकार

की विषमता न रहने दे।' अस्तु दलित साहित्य क्रांति चेतना का साहित्य है।

'दलित साहित्य : सीमाएं और सम्भावनाएं' शीर्षक से 'आजकल', अक्टूबर 92 में प्रकाशित लेख में मोहनदास नैमिशराय ने लिखा है कि महाराष्ट्र के बाहर दलितों के जीवन की त्रासदियों पर लिखने का श्रेय प्रेमचन्द को दिया जाना चाहिए। सर्वप्रथम उन्होंने ही दलितों की पीड़ा को साहित्य में चित्रित किया। प्रेमचन्द पहले भारतीय हैं जो सवर्णों और अवर्णों के बीच रोटी-बेटी का सम्बन्ध स्थापित करते हैं। रोटी का सम्बन्ध 'कर्मभूमि' में स्थापित होता है और बेटी का सम्बन्ध 'गोदान' में। 'रंगभूमि' और 'कर्मभूमि' में प्रेमचन्द के पात्र विषमता के खिलाफ लड़ते हैं। प्रेमचन्द के समय में ही पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' का उपन्यास पहले 1928 'बंधुआ की बेटी' नाम से कलकत्ता से तथा बाद में 1953 में 'मनुष्यानन्द' के नाम से मिर्जापुर से प्रकाशित हुआ। यह हिन्दी साहित्य का पहला उपन्यास है जिसमें समाज की सबसे दलित और अछूत कहे जाने वाली जाति की नारी पात्र को नायिका का स्थान प्राप्त हुआ। सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' द्वारा लिखित 'अलका' और 'निरूपमा' 'चतुरी चमार' 'बिल्लेसुर' बकरीहा' इसी कड़ी के अगले उपन्यास हैं। प्रेमचन्दोत्तर काल के प्रमुख उपन्यासकारों में आचार्य चतुर सेन हैं जिन्होंने अपने उपन्यास 'गली' में सामन्ती काराओं में कैद मानवीय अधिकारों से सर्वथा वंचित दास-दासियों की पीड़ा को वाणी दी। उनका दूसरा उपन्यास 'उदयास्त' है। वह दलितों में अधिकार पाने के लिये हुई चेतना को दर्शाने वाला उपन्यास है। 'शेखर : एक जीवनी' उपन्यास के प्रथम भाग में अज्ञेय दक्षिण भारत में व्याप्त छूआछूत तथा वर्गभेद को मार्मिक ढंग से अभिव्यक्त करते हैं।

इस संदर्भ में यह बात भी विचारणीय है कि दलित साहित्य में स्वयं दलित समाज के अन्तर्विरोध को अनदेखा नहीं किया गया है। 'बलि' में विभावरी शिरूरकर ने दिखाया है कि दलितों की बेहतरी के लिये सचेष्ट और संघर्षरत 'आवा' को उसकी ही मात के लोग खत्म कर देते हैं। यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र' कृत 'हजार घोड़ों का सवार' में 'गीधू' की हत्या के लिए भी उसकी ही जाति के लोग उत्तरदायी हैं।

वस्तुतः उपन्यास सम्राट प्रेमचन्द पहले रचनाकार थे जिनकी अधिकांश रचनाओं में दलित-चेतना की सुगबुगाहट सुनाई देती है। भारतीय हिंदू समाज की शास्त्र-सम्मत वर्ण-व्यवस्था के प्रति दलित समाज की संवैधानिक प्रावधानों के अनुसार घोषित अनुसूचित जाति एवं प्रेमचंद-समय की अस्पृश्य जाति के सदस्यों का आक्रोश-विद्रोह 'गोदान' उपन्यास में हरखू के माध्यम से व्यक्त हुआ है। वह तल्ल होकर कहता है 'तुम हमें ब्राह्मण नहीं बना सकते, मुआ हम तुम्हें चमार बना सकते हैं। हमारी इज्जत लेते हो तो अपना धर्म हमें दे दो।' इस आक्रोश-क्रोध एवं विद्रोह का संगठित और दुस्साहसी रूप शिवप्रसाद सिंह कृत 'अलग-अलग वैतरणी' उपन्यास में दृष्टव्य

है जहां दलित जन एक जुलूस की शक्ति में सुगनी को सूरज सिंह की पत्नी का अधिकार दिलाने के लिए चल पड़ते हैं। रामदरश मिश्र कृत 'जल टूटता हुआ', जगदीश चन्द्र कृत 'धरती धन न अपना', मधुकर सिंह कृत 'जंगली सुअर' आदि उपन्यासों में दलितों की मुक्ति चेतना के अनेक आयाम मुखर हुए हैं। इसके साथ ही रांगेय राघव कृत 'कब तक पुकारूँ', उदय शंकर भट्ट कृत 'सागर, लहरें और मनुष्य', भगवतीचरण वर्मा कृत 'भूले-बिसरे चित्र', अमृतराय कृत 'बीज', रेणु कृत 'मैला आंचल', यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र' कृत 'पत्थर के आंसू' तथा 'हजार घोड़ों का सवार', भैरव प्रसाद कृत 'सती मैया का चौरा', गोविन्द वल्लभ पन्त कृत 'जूनिया', आगरिगपुड़ि का 'नदी का शोर', मधुकर सिंह कृत 'सबसे बड़ा छल', गोपाल उपाध्याय कृत 'एक टुकड़ा इतिहास', दयाशंकर मिश्र कृत 'छोटी बहू', ब्रजभूषण कृत 'मंगलोदय', दामोदर सदन कृत 'नदी के मोड़ पर', रामकुमार भ्रमर कृत 'मोतिया', मन्नू भण्डारी कृत 'महाभोज', नरेश मेहता कृत 'नदी यशस्वी है', भीष्म साहनी कृत 'बंसती', बाला दुबे कृत 'मकान दर मकान', गिरिराज किशोर कृत 'परिशिष्ट', रमेशचन्द्र शाह कृत 'बिस्सा गुलाम', भगवती शरण उपाध्याय कृत 'खून की छींटे इतिहास के पन्नों पर', राहुल सांस्कृत्यायन कृत 'सिंह सेनापति', संतराम बी.ए. कृत 'हमारा समाज', तरसेम गुजराल कृत 'मटमैला आकाश' आदि उपन्यासों एवं अनेक कथाकारों की जनवादी, वामवादी, नव-वामवादी तथा समकालीन कहानी की प्रवृत्ति-प्रकृति के रूप में प्रकाशित कहानियों में सामाजिक शक्ति के उद्घोष बनते जा रहे दलित समाज के शोषण-उत्पीड़न यातना से मुक्ति के मुखरित स्वर को देखा जा सकता है। फिर भी अमृतलाल नागर कृत उपन्यास 'नाच्यो बहुत गोपाल' में निर्गुनिया के द्वारा सामाजिक न्याय के संदर्भ में उठाया गया सवाल आज के समय में भी प्रासंगिक बना हुआ है। 'दुनिया में बड़े-बड़े गिरे लोगों की तकदीरें पलट गईं। अफ्रीका के लोग जो कल तक गुलाम थे, अब खुद मुखत्यार हो गए। दुनिया में इत्ता-इत्ता इन्कलाब जिंदाबाद और आजादी के नारे लग गए पर हम मेहतारों को किसी ने आजाद नहीं किया बाबूजी।' सन् 1945-76 में प्रकाशित उपन्यास में उठाया गया सवाल 'दलितों में दलित' या 'अस्पृश्यों में अस्पृश्य' मानी जाने वाली जाति-विशेष को स्वतंत्रता, न्याय एवं बन्धुत्व के आधार पर सामाजिक न्याय की दृष्टि से अक्षरशः सत्य प्रतीत नहीं होता।

'दलित साहित्य : पृष्ठभूमि और प्रकृति' लेख में डॉ. वेद प्रकाश अमिताभ ने लिखा है कि यह शोध का विषय होगा कि अन्य भारतीय भाषाओं में दलित लेखकों की संख्या कम क्यों है? ऐसा क्यों है कि हिन्दी, बंगला, पंजाबी, कन्नड़, तमिल आदि भाषाओं के दलितेत्तर लेखकों ने ही दलित जीवन की नियति का विस्तृत एवं प्रामाणिक बयान किया है।...बंगला में दलित साहित्य के विकास का श्रेय महाश्वेता

देवी को है। उनकी 'जंगल के दावेदार', 'चेट्टिट्ट मुण्डा और उसका तीर' तथा 'अबलांत कौरव' आदि कृतियों में मुण्डा, कोल, संधाल आदि आदिवासियों के जीवन संघर्ष की अभिव्यक्ति दृष्टव्य है। आदिवासियों का मिशन, महाजन दिक्कू और सामन्ती तत्वों के अतिरिक्त सरकार से भी जूझना पड़ता है। अपनी दयनीयता और असहायता से उबरने के लिए शोषित आदिवासी जनों को अपने तीर-कमान पर भरोसा रखना अस्वाभाविक नहीं है। 'चेट्टिट्ट मुण्डा और उसका तीर' में शोषकों को स्पष्ट चेतावनी दी गई है... 'तुम लोगों में कोई भी अपनी कचहरी में जिंदा नहीं बचेगा। पुलस अंधेरे में जब स्वरूप के दल के लोग तीर मार कर कुचले विष को लहू से बुझाएंगे तो कौन पुलस बचायेगी?'

अन्य भारतीय भाषाओं में दलित साहित्य की कोटि में आ सकने योग्य बहुत सी सार्थक कृतियां लिखी गई हैं। तेलुगू में लक्ष्म नारायण की 'मालपल्लि', कन्नड़ में यू.आर.अनन्तमूर्ति की 'भारती पूर', पंजाबी में बसन्त कुमार रतन की 'सत विट्टा खूट्ट' और मलयालम में 'चेम्मीन' आदि कृतियां इस संदर्भ में पठनीय हैं। इन सब में जो सम्मिलित सोच उभरा है वह अन्याय, समता और बंधुत्व के निमित्त निर्मित भारतीय संविधान के सर्वथा अनुकूल है। 'भारतीपूर' में यू. आर. अनन्तमूर्ति ने ईश्वर के प्रति अपनी अनास्था व्यक्त करते हुए दीन-हीन मातंगों को सीना तानकर सिर उठाने की प्रेरणा दी है, तेलगू की 'करनिटकि नोरोच्चादे' में प्रोतन्न की पत्नी पार्वती का दुस्साहस इस बात का प्रमाण है कि दलित वर्ग निरुपाय एवं मूक नहीं रह सकता।

शम्भुनाथ के सम्पादन में कलकत्ता से प्रकाशित 'समकालीन सृजन' नामक साहित्य और सामाजिक आलोचना की त्रैमासिकी में 'तमिल नवजागरण और काव्य' शीर्षक लेखक में आर. भानुमति लिखा है कि 'भारत में नवजागरण का महत्वपूर्ण कार्य समाज में गहराई तक व्याप्त बुराइयों को उखाड़कर समाज को नवीन रूप प्रदान करता था। तमिल कवि भी हमारे समाज की बुराइयों के विरुद्ध आवाज उठाने में पीछे नहीं थे। उन्होंने अपने-अपने पाठकों का ध्यान समाज की दुःखद स्थिति की ओर आकृष्ट किया। अपनी विशिष्ट प्रतिभा से उन्होंने जातिवाद, छूआछूत, स्त्रियों के प्रति भेद-भाव, मजदूर वर्ग की दीन दशा, गरीबी आदि को तमिल कविता का विषय बनाकर समाज में व्याप्त विभिन्न बुराइयों की निंदा की। अज्ञात काल से ही हमारे समाज में जातिवाद जैसी बुराई व्याप्त है। तमिल कवियों ने हिंदू समाज में पतन की ओर जाते लोगों के उत्थान पर बल दिया। भारती दसन कहते हैं 'जम से कोई ऊंच-नीच नहीं होता। जो यह कहते हैं, वे मूर्ख हैं। दूर करनी होगी हमें यह गलती। देश के सभी बच्चे एक मां की संतान हैं।' तमिल कवि जातिगत भेद-भाव में छूआछूत की भावना के बिल्कुल विरुद्ध थे उनके अनुसार छूआछूत मानव के प्रति एक क्रूर व्यवहार है। उन्होंने मुक्त-भाव से दलित लोगों के उद्धार के लिए कविता लिखी।

कविमणि देशिका विनायकम् पिल्ले ने अपनी कविता 'दलितों का आत्म-निवेदन' में हरिजनों के मन्दिर प्रवेश पर रोक की भर्त्सना की। शिव ने मकड़े तक को वरदान दिया था जबकि हमारे मन्दिर जाने तक पर रोक है। भयंकर देवी काली, जो शराब और मांस खाती है। क्या ऐसी है, कि भाग जाएगी। जब हम मन्दिर में घुसेंगे।'

इतिहास के परिप्रेक्ष्य में उन्नीसवीं एवं बीसवीं सदी को वैधानिक क्रांति का काल कहना अनुपयुक्त न होगा। सामाजिक परिवर्तन एवं विकास देश के सर्वहारा वर्ग श्रमिकों पर अवलम्बित है किंतु समाज में श्रमिकों-मजदूरों को श्रमनिष्ठा, ईमानदारी एवं कर्तव्यपरायणता से जीवनयापन करने के उपरांत भी सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं है। इस सम्बन्ध में तमिल कवियों के चिंतन एवं सृजन को रेखांकित करते आर. भानुमति ने लिखा है कि तमिल नवजागरण के विकास काल में कवियों ने मजदूरों के महत्व पर कविताएं लिखीं। उनकी दयनीय स्थिति का चित्रण किया। उनका ध्यान गरीबी की ओर गया। आर्थिक रूप से पिछड़े वर्ग की उन्नति तथा आर्थिक समानता भारतीय नवजागरण का एक महत्वपूर्ण आदर्श रहा है। अतः तमिल कवियों का ध्यान गरीबी पर गया जो हमारे समाज में कोढ़ की तरह है। कविमणि देशिका विनायकम् पिल्ले ने अपनी कविता में गरीब जनता की दयनीय स्थिति का वर्णन किया है 'कभी हमने अच्छा दिन नहीं देखा। कभी भरपेट भोजन नहीं खाया। रोज रात-दिन भटकते रहे। गरीबी से निकलने के लिए। सभी रास्ते बंद थे। तुम अक्सर कहते हो कॉफी! कॉफी!! हमने कभी नहीं देखा इसे। यह क्या खाने की कोई चीज है। या कमीज। या टोपी कृपया बताइए।'

पत्तुक्कोट्टई कल्याण सुन्दरम् कहते हैं 'मधु का समुन्दर लहरा रहा है। खेतों में धान पक कर तैयार है। तब भी आश्चर्य है। हमें खाना नहीं मिलता। पेट पीठ पर सट गया है।' गरीबी दूर करने के लिए तमिल कवियों ने समाजवाद की चर्चा की है। भारती दसन ने अपनी कविता में कहा है 'समाजवाद की चेतना फैला दें हम। दसों दिशाओं में। हमें अपने जीवन की तरह। रक्षा करनी है उस चेतना की।' कवि रघुनाथन ने कहा है 'दृढ़ता से खड़े होंगे हम और भय नहीं करेंगे। थोड़े से लोग ही सुखी हैं। यह स्थिति बदलनी चाहिए। तब तक लड़ते रहेंगे हम दृढ़ता से।' उस परिस्थिति में जब राष्ट्रीयता को नष्ट करती हुई क्षेत्रीयता पनप रही थी, स्त्रियों तथा अछूतों को अच्छे दिनों की तलाश थी, मजदूरों का शोषण कर पूंजीपति पनप रहे थे, धनी और अधिक धनी तथा गरीब और अधिक गरीब हो रहे थे, भारत में विभिन्न क्षेत्रों में नवजागरण की सशक्त लहरें उठ रही थीं। तमिलनाडु उन लहरों में अछूता न था। नए विचारों में समाज और साहित्य डूब-उतरा रहे थे। उस समय तमिल कविता की भूमिका क्रान्तिकारी, महत्वपूर्ण तथा उल्लेखनीय थी। आर. भानुमति के इस लेख का हिन्दी में अनुवाद विश्वम्भर दुबे ने किया है।

इस प्रकार यह बात तो स्पष्ट हो ही जाती है कि कोई भी सच्चा साहित्यकार और उसका साहित्य समकालीन सामाजिक स्थिति से विच्छिन्न नहीं होता है किन्तु वह अपने समकालीन समाज का प्रतिबिम्ब मात्र भी नहीं होता है, वह तो उसे बदलना भी चाहता है। इस कारण धारणाओं के अनुकूल उसे बनाना भी चाहता है। इसी कारण साहित्य की प्रवृत्तियों और साहित्यिक आंदोलनों का स्वरूप सम-सामायिक, सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक दशा और दिशा के बोध से निर्धारित होता है। किसी भी भाषा का साहित्य हो, वह अपने समकालीन समाज के साथ कदम मिलाकर भी चलता है और उसके विरोध में भी खड़ा होता है। इस दृष्टि से देखने पर ही दलित साहित्य का लक्ष्य समसामयिक दशा एवं दिशा के चित्रण का है जिसमें संघर्ष उसकी नियति है तो विद्रोह उसकी प्रकृति है और मानवीय सम्बन्धों को महत्व देते हुए 'मात्र मनुष्य' और 'मनुष्य मात्र' की प्रतिष्ठा ही उसका प्रमुख लक्ष्य है। इसलिए यह कम महत्वपूर्ण बात नहीं है कि भारतीय साहित्य के इतिहास में यह अभूतपूर्व घटना है कि समकालीन भारतीय दलित साहित्य और उसके साहित्यकार हजारों वर्षों से शोषित उपेक्षित-पीड़ित एवं प्रताड़ित दलित समाज का मनुष्य आज अपने अस्तित्व-अस्मिता की खोज में विद्रोह, निषेध या विरोधी की मुद्रा लिए संघर्ष और परिवर्तन की आकांक्षा से खड़ा है।

भारतीय भाषाओं में सृजित दलित क्रान्तिकारी चेतना के सामाजिक शक्ति के दलित साहित्य में दलित जन एक ओर हमसे अन्याय उत्पीड़न-यातना एवं अत्याचार का हिसाब मांग रहा है तो दूसरी ओर स्वतंत्र भारत के जनतांत्रिक संविधान के परिप्रेक्ष्य में नये समाज की संरचना के लिए राष्ट्रीय एकता एवं अखण्डता के लिए और मानवीय स्वतंत्रता के साथ-साथ देश की स्वतंत्रता की अक्षुण्णता के लिए सर्वर्ण समाज-द्विज समाज या ब्राह्मणवादी प्रवृत्ति के समाज से प्रौद्योगिक एवं तकनीकी के विकसनशील समाज के साथ निरन्तर गतिमान रहने के लिए पुराण-पंथी मान्यताओं के नकार एवं पारम्परिक समाज व्यवस्था के निषेध के लिए सहयोग की अपेक्षा कर रहा है। हमें विश्वास है कि दलित साहित्य एवं उसके रचनाकारों का यह सपना एक-न-एक दिन अवश्य साकार होगा। आज के इस दलित साहित्य के विरोधी नाक-भौं सिकोड़ने वाले बुद्धिजीवियों एवं सृजनधार्मियों को भी अवश्य ही सामाजिक शक्ति की, सृजनात्मक क्रान्ति चेतना के रचना-कर्म के पक्षधर दलित साहित्य से सरोकार या साक्षात्कार करना ही होगा।

राधेलाल बिजधावने साहित्य की दलित संवेदना

दलित साहित्य क्या नकारात्मकता का साहित्य है अथवा समाज की संरचनात्मक दृष्टियों का साहित्य है। यशवन्त मनोहर का कथन है 'दलित यानी क्रांतिमान संवेदना। दलित यानी परिवर्तननिष्ठ जीवन मार्ग। दलित यानी समता, सुअवसर, स्वतंत्रता का विचार! दलित यानी सुसंस्कृत, अशोषित और स्वस्थ निरोग मानवीय जीवन का संकल्प।

दलित साहित्य जनवादी तथा प्रगतिशील साहित्य की ही तरह आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक दृष्टि से शोषित लोगों का साहित्य है। जनवादी तथा प्रगतिशील साहित्य में आर्थिक रेखा से नीचे जीनवालों के प्रति आदर, चिंता, सहानुभूति तथा उनके स्तर को ऊपर उठाने के प्रयत्न तथा चिन्ताएं समाहित हैं। परन्तु दलित साहित्य में जाति एवं धर्म की नायकता स्पष्टतः परिलक्षित है। नामदेव ढसाल की स्पष्ट मान्यता है कि दलित यानी अनुसूचित जातियां बौद्ध, कष्ट उठाने वाली जनता, मजदूर, भूमिहीन मजदूर, गरीब किसान, खानाबदोश जातियां आदिवासी। जबकि लक्ष्मण शास्त्री जोशी का कथन है दलित मानवीय प्रगति में सबसे पीछे पड़ा हुआ और पीछे ढकेला गया सामाजिक वर्ग है। जैसे महार, चमार, डोम, मेहतर आदि।

भारतीय भाषाओं में मराठी और कन्नड़ दो ही ऐसी भाषाएं हैं जिनमें दलित साहित्य की धारा प्रवाहित हुई है। यह धारा जाति तथा धर्म विरोधी भावना से उत्प्रेरित है। जिसमें दलितों द्वारा सवर्णों का विरोध, ब्राह्मणवाद का विरोध, अस्पृश्यता का विरोध इस साहित्य की प्रमुख विशेषता है। मराठी में दलित साहित्य ने पच्चीस वर्ष में अपनी अलग पहचान बना ली है।

कन्नड़ भाषा में दलित साहित्य वंड्या आन्दोलन का प्रमुख अंग रहा है। इस आन्दोलन में प्रमुख भूमिका चन्द्रशेखर पाटिल, पी. कंकेश, देवनुर महादेवन बी. कृष्णप्पा की रही है। जो कि वामपंथी विचारधारा के लेखक रहे हैं। मराठी दलित साहित्य का इतिहास भी 20-25 वर्ष में ज्यादा सजग होकर अपनी छवि बना सका है। मराठी दलित साहित्य के प्रेरणा स्रोत ज्योतिबा फुले, महात्मा गांधी तथा डॉ. भीमराव

अम्बेडकर रहे हैं। दलित साहित्य को उदारवादी परम्परा का प्रतिपादन बाल शास्त्री जामेकर दादोवा पांडुरंग, विष्णु बबा, ब्रह्मचारी न्यायमूर्ति रानाडे चिपलूणकर अग्रकर तिलक, गोखले आदि हैं। इन्हीं की वजह से स्त्रियों की समस्याएं उभर कर सामने आईं। 1960 में दलित साहित्य युवा वर्ग के आत्मकेन्द्र में आ गया था तथा उनमें नई जागृति लाने में सफल हुआ था। डॉ. अम्बेडकर ने मनुस्मृति को सार्वजनिक रूप से जलाकर जाति भावना रहित बौद्ध धर्म को स्वीकार किया।

प्रारंभ में दलित साहित्य निम्न जातियों द्वारा लिखा गया साहित्य के रूप में स्वीकारा गया। इसलिए दलितों का दलितों द्वारा लिखा साहित्य के रूप में परिभाषित किया जाता और पहचाना जाता था। इसकी प्रमुख वजह यह भी थी कि निम्न वर्ग नारकीय जीवन भोग रहा था। उसके जीवन के यथार्थ को दलित साहित्य के लेखकों ने गहन आस्था और निष्ठा के साथ उनके जीवन के यथार्थ को दलित साहित्य में प्रस्तुत किया। जैसे एक मेहतर को मैले की टोकरी सिर पर ढोनी पड़ती थी जो घृणित, अमानवीय कार्य समझा जाता था। पढ़ी-लिखी पीढ़ी के लिए हेय तथा लज्जाजनक भी।

मराठी दलित साहित्य की तरह कन्नड़ दलित साहित्य का चरम उद्देश्य सामाजिक बुराइयों, अन्याय, शोषण, उत्पीड़न के खिलाफ जनता में जागृति उत्पन्न करना तथा स्त्रियों में शोषण के प्रति जागरूकता लाना था। मराठी दलित साहित्य में भी आरंभ में लेखक अनुसूचित जाति, जनजाति तथा छोटे तबके से ही आये थे। अमेरिका के ब्लैक पैंथर आन्दोलन का प्रभाव भारतीय दलित साहित्य पर पड़ा और उसमें नई चेतना विकसित हुई।

कन्नड़ भाषा में सिद्ध लिंगैसा की कविताएं पूरे दलित समाज में विचार क्रांति लाने में सफल हुईं। क्योंकि दलित भाषा में ही उनकी कविताओं को स्वीकारा गया। उनके लोकगीतों को जो शोषण के विरुद्ध थे, हर जगह गाया जाता था। कन्नड़ भाषा में सत्तर के दशक में दलित लेखकों की संस्था में काफी वृद्धि हो गयी। जिनकी रचनाओं में अपमान-शोषण से पीड़ित लोगों के प्रति क्रान्ति और सहानुभूति तथा रीति-रिवाजों के प्रति विरोध का स्वर। 'कम्पु काडिन हाडु' तथा 'सविरास न दिणलु' सिद्धलिंगैसा के कविता संग्रह दलित साहित्य में सर्वोत्कृष्ट माने गए। 'ओडालरा' तथा 'कुसुम बाके' में देवनुर ने सवर्णों का विरोध तथा घृणा की भावना को सशक्त ढंग से प्रस्तुत किया है।

दलित साहित्य का मकसद जाति भेद, धर्म भेद, से मुक्ति दिलाने की संघर्ष-यात्रा को सफल बनाना है। जिस तरह अफ्रीका में काली बस्ती गोरी बस्ती या आबादी के बीच संघर्ष जारी है। भारत में भी दलित आवादी काली बस्ती की तरह ही है। कनेडियन (कनेडा) समाज में भी रंगभेद गहरा है। वहां पाकी को गो बैक कहकर

भारतीयों के प्रति अपमानजनक बातें और घटनाएं होती रहती हैं।

मानव जाति में रंगरूप, कद, शारीरिक बनावट, जाति, धर्म की बनावट के आधार पर कोई भेदभाव मानवता के विपरीत है। धर्मान्धता के उठ रहे बबंदरों से अस्पृश्यता तथा वर्ण व्यवस्था को खुलेआम समर्थन मिल रहा है। अन्य देशों में आर्थिक स्तर पर वर्ग बंटे हैं जबकि भारत में वर्ण व्यवस्था जाति, धर्म के आधार पर बनी है जिसमें ब्राह्मणों और सामंतों का वर्चस्व रहा है। समाज पांडित्य ब्राह्मणों तक सीमित है। भारत में कोई वाल्टेयर जैसा पैदा नहीं हुआ। वाल्टेयर जिस कैथोलिक धर्म में पला था, उसी के सिद्धान्तों के विरुद्ध खड़ा हो गया।

शताब्दियों तक दलित अवस्था में जीने के बाद और इस्लामिक संस्कृति के प्रभाव एवं प्रभुत्व की वजह से नीच जातियों में जातिगत चेतना विकसित हुई। डॉ. पीताम्बर दत्त बडथवाल का कहना है मध्यकालीन भारत के धार्मिक इतिहास के पन्ने शूद्र भक्तों के नाम से भरे हैं। जिनका सम्मानपूर्वक स्मरण सभी वर्णों के सदस्य द्वारा किया जाता है।

यह अब आवश्यक नहीं रह गया है कि दलित साहित्य वही है जो दलित द्वारा दलितों के लिए लिखा गया हो। दलित साहित्य वह है कि जिसमें दलित संवेदनाओं का विवेचन हो। दलितों की भावनाओं, उनके दुखदर्दों का समावेश हो। दलित साहित्य में कला-शिल्प सौन्दर्य का विशेष महत्व नहीं। इसमें महत्वपूर्ण दलित भावना प्रस्तुति की है। उनके आर्थिक, सामाजिक हालतों की विवेचना की है। मार्क्सवादी साहित्य में भी आरंभ में यही स्थिति थी। उसमें मार्क्सवादी दर्शन के प्रतिबिम्ब को महत्वपूर्ण माना जाता था। बाद में मार्क्सवादी साहित्य में कला, शिल्प, शब्द, संवेदना को विशेष महत्व देकर उसके साहित्यिक अवदान की समीक्षा कर उसके साहित्यिक फलक को भी नापा जाने लगा।

अब दलित साहित्य नकार का साहित्य नहीं है। अब धीरे-धीरे दलित साहित्य हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं में भी अलग स्थान बनाने लगा है। इसमें उच्च वर्ग एवं वर्ण के लेखक कवि भी शामिल हो रहे हैं। दलित साहित्य एवं प्रगतिशील साहित्य या जनवादी साहित्य का मकसद लगभग समान ही है। इसका मकसद है मानवता की रक्षा करना, उनके हितों की सुरक्षा करना। उनके अधिकारों की वापसी तथा गरीबी की रेखा से ऊपर लाकर दुख-दर्द, तनावों, शोषण से मुक्ति दिलाना है।

मराठी के दलित साहित्य में सवर्णों के प्रति विद्रोह का स्वर स्पष्ट और तीखा है। जैसे कि यशवंत मनोहर की इस कविता से स्पष्ट होता है

‘मैं पोतता हूँ उबलता डामर
तुम्हारे तथाकथित देवता के मुंह पर
देवता को खड़ा करनेवालों के षड्यंत्रकारी शब्दों पर।’

नामदेव ढसाल तो गीता एवं मनुस्मृति को हेय मानते हैं। ये ऐसे नकारात्मक स्वर को स्वीकारते समय यह भूल जाते हैं कि मध्यकाल के दलित संतों की परम्पराओं का अवदान महत्वपूर्ण रहा है जिसकी वजह से दलित जातियों के सन्तों का सम्मान सवर्ण लोग करने लगे। उनकी पूजा करने लगे।

बालकृष्ण कावठेकर, भीमसेन देडे केशव सुत करदीकर ने दलितों में सुधारवादी चेतना विकसित की है तथा आत्माभिमान की चिंगारी पैदा की है।

मध्यकाल में जातिवाद लचीला था। जिसके फलस्वरूप निम्न जातियों के लोग उच्च शिक्षा प्राप्त कर उच्च जातियों के समकक्ष स्वयं को खड़े कर सके। वर्तमान समय में जातिवाद का भयंकर प्रकोप महामारी की तरह फैल रहा है। उत्तर प्रदेश, बिहार, मध्य प्रदेश में उसका असर ज्यादा ही बताया जा रहा है। यह एक राजनैतिक खेल का कारण एवं परिणाम है। भेड़ियों की मांद में मशाल जलाने की कार्यवाही कही जा सकती है। जो सामाजिक कलह, वैमनस्य और साम्प्रदायिकता, जनवादी व्यवस्था का मुंह काला करना चाहते हैं।

जातिवाद मूलतः एक संकीर्ण सांस्कृतिक पद्धति है। जगजीवन राम हरिजन जनता की रहनुमाई की थी। प्रो. इरफान हबीब का कथन है जाति व्यवस्था के निर्माण की प्रक्रिया में समाज में तनाव पैदा हुआ। संघर्ष हुए। इन संघर्षों में शामिल शोषित जनों ने अपने को कभी जाति चेतना से बाहर निकलकर नहीं देखा। जाति संगठन महाराष्ट्र तथा दक्षिण भारत में प्रमुखता से पाये जाते हैं। ब्राह्मणवादी संघर्ष की नींव इन्हीं राज्यों में पड़ी। संस्कृतिकरण के संघर्ष में दक्षिण तमिलनाडू की नडार जाति ने क्षत्रियों का दर्जा मिल जाने के लिए संघर्ष किया। इसके लिए अलग शिक्षण संस्थाएँ खोलीं। इनमें संतिल विलाखस, मुदलियार, चेटियार तेलगु रेड़ियां खंभा वणिजनायडू तथा भलमाली नायर जाति के लोग भी शामिल हुए। हिन्दू धर्म की नींव ही जाति पर आधारित है। अम्बेडकर ने गांधी का विरोध जातिवादी भेदभावों के लिए किया था, लेकिन अम्बेडकर भी अंततः जाति को अपनाते रहे। पी.एन. रंगास्वामी का कथन है जाति विभेद दूर करने के लिए ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए जिससे ऊंची जाति के लोग निम्न जाति के लोगों में विवाह करने में रुचि लें। अब स्थितियां बदल रही हैं। निम्न जातियां दरअसल अर्द्ध आदिवासी जातियां हैं। अब ये उठने की कोशिश कर रही हैं।

ज्योतिबा फूले ने मराठा माली, तेली जाति के उत्थान के लिए जिस तरह कार्य किया उसी तरह अम्बेडकर ने भी महार, चमार, डोम जातियों के विकास के लिए कार्य किया। अक्सर हताश स्थिति में अम्बेडकर महात्मा गांधी से पूछते थे कि 'मेरा देश कहां है?' यही प्रश्न दलित साहित्य में पूछा जाता रहा है।

दलित साहित्य को प्रतिष्ठित करने में निश्चय ही दलित साहित्यकारों का

योगदान महत्वपूर्ण है। इस संदर्भ में म. कि. चिटणीस, श्री रा.मि. जोशी, श्री मै. पु. रेगे, रा.ग. जाटव, श्री लक्ष्मण शास्त्री जोशी, प्रनेसर का सदा कन्हाड़े, प्रा. क्षं वि. सरदेशमुख, नारायण आठवले, नर हर कुसुन्दकर, मालचन्द फड़के का योगदान महत्वपूर्ण माना जाता है। आरंभ में 'दलित द्वारा लिखा गया साहित्य' के रूप में मान्य किया गया, लेकिन अब इसके सम्बन्ध में वैचारिक बदलाव भी आया है और अब दलितों के लिए लिखा गया साहित्य, दलित साहित्य के रूप में जाना जाने लगा है। यह संवेदना किसी भी जाति, धर्म के साहित्यकार की हो सकती है। इसीलिए दलित साहित्य अब नकार का साहित्य नहीं है। दलितों के उत्थान के लिए लिखा गया साहित्य बन गया है, इसलिए दलित साहित्य का अपना एक अलग सौन्दर्यशास्त्र बन चुका है। इसकी भाषा शिल्प में नवीनता तथा सूक्ष्म कलात्मकता भी आती गई। जातिगत हीनता की भावना अब कम हो गयी। अब दलित साहित्य में वर्ग एवं वर्ण चेतना विकसित को जाने लगी और नवजागरण का अलख जगाने के प्रयत्न शुरू हो गए।

जब से रूसी सत्ता परिवर्तन हुआ, विश्व साहित्य में प्रगतिशील एवं जनवादी साहित्य का बिगुल धीरे-धीरे बजने लगा। इसका तात्पर्य यह नहीं कि मार्क्सवादी सोच एवं विचारधारा समाप्त हो गई बल्कि विचारधारा कभी समाप्त नहीं होती। दलित साहित्य मार्क्सवादी-साहित्य में ठंडापन आते ही ज्यादा सचेतन और गतिशील हो गया। वैसे भी जहां गरीबी, बेरोजगारी, जाति एवं धर्मवाद बदला जाएगा, दलित साहित्य की जरूरत अधिकाधिक महसूस की जाएगी और उसका महत्व बदल जाएगा। क्योंकि यह वक्त की चुनौतियों से उत्पन्न संघर्षों की मुक्ति का साहित्य है, जिसमें जीवन की जिजीविषा, चेतना और सृजन की भावना तथा आगे बढ़ने की प्रेरणा है। दलित साहित्य बहुसंख्यक वर्ग का, बहुसंख्यक वर्ग के लिए है। इसलिए मराठी साहित्य में दलित साहित्य का महत्व विशिष्ट है।

दलित साहित्य शेष परंपरा से अलग अम्बेडकर तथा महर्षि ज्योतिबा गोविन्दराव फुले के विचारों और परम्पराओं से उत्प्रेरित है। दलित साहित्य में कविता, कहानियां और नाटक विस्फोटक ढंग से लिखे गए। जिन्होंने दबी हुई भावना की बोल्ड होकर प्रस्तुति की थी। दलित उपन्यास और नाटक जलती हुई आग की ही तरह आये। इनमें जेहाद और जिहाद के साथ संतुलित कीरज और करेज भी है। केशव मेश्राम माधव कोड़विलकर, प्र. सोन कांव की निश्छल अभिव्यक्ति में जीवन्तता तथा घनीभूत संवेदना है। दलित साहित्य हरिजनों के आत्मचरित तथा अनुभवों को विराटता प्रदान करता है और उनकी संवेदनाओं के खजाने में वृद्धि भी करता है। दलित साहित्य में लोककथा का भण्डार भरा है। इनके मौखिक लेखन को ग्लोरोफाइड भी करता है। इनमें ट्रेजिक अनुभव सहज उपस्थित हुआ है। इसलिए दलित साहित्य का आत्मचिंतन

अपनी मूल जड़ों और संवेदना से जुड़ा है। यह अपने परिवेश, भाषा, शब्दों को मूल रूप में प्रस्तुत करता है। अतएव यह सामाजिक जागृति और क्रांति लाने का एकमात्र माध्यम है।

दलित साहित्य पर अक्सर यह आरोप लगाया जाता है कि यह उच्च जातियों के प्रति मात्र आक्रोश है। धर्म की आलोचना, ब्राह्मणों और मनुओं के प्रति घृणा की भावना से उत्प्रेरित है। इसलिए इसे साहित्य नहीं, बल्कि दलित आक्रोश का विस्फोट कहा जा सकता है। जो आवेशों से परिपूर्ण है। जिसमें कलात्मकता, शिल्प और शैली की वैज्ञानिकता और भाषाई परिपक्वता भी नहीं। जैसा कि नामदेव ढसाल की इस कविता से स्पष्ट होता है

‘तुम्हारे लिये मुझमें न आदर है
और न गुण-गान करने की इच्छा
लगता है पान खाकर
तुम पर ढेर सारा थूक दूँ।’

चन्द्रकांत वांदिवडेकर यह मानते हैं कि मराठी की मनोरंजनवादी प्रवृत्ति एवं सुखवादी प्रेरणा ने ग्रामीण साहित्यकारों को भी ग्रामीण यथार्थ का व्यापक उद्घाटन करने से रोका है। पर दलित साहित्य उग्रवादी साहित्य है इसमें कलात्मकता की परवाह नहीं की गई। रचना की बारीकियों को देखा ही नहीं गया। इनमें खुरदरे अनुभवों का समावेश है।

चन्द्रकान्त वांदिवडेकर का यह भी मत है कि दक्षिण साहित्य की विस्फोटक चेतना, अभिव्यक्ति ने अप्रत्यक्षतः बहुत काम किया है। सामाजिक चेतना, समाज सुधार, प्रगतिशीलता, साहित्य की उद्देश्यपरकता, प्रतिबद्धता, धर्मोत्थान आदि का जिक्र आते ही संकोच में दिखने वाली मराठी समीक्षा या उसे प्रचार के खाते में डालकर संतुष्ट होने वाली समीक्षा दृष्टि आज निश्चित ही असमंजस की स्थिति में आ गई है।

एस. एल. विरदी
दलित साहित्य और पंजाबी साहित्य

साहित्य को समाज का आईना, दिल की उड़ती तरंग, मन की गहराई, मानसिक विश्लेषण, जीवन का नया पथ, नया निशान, नई 'लीक', नई समझ, नई सभ्यता और नई दुनिया के सिरजन का साधन कहा गया है।

यहां पर ही बस नहीं, साहित्य का मुख्य उद्देश्य लोगों को जागृत करना, सामाजिक मसलों के बारे में जानकारी देना, उनके चेतना स्तर को उठा कर उनको अधिकारों के मामले में जानकारी देना, अधिकारों के मामलों को सूचित करके उनमें उत्साह, वीरता, दृढ़ता और दिलेरी की भावना पैदा करके उनको अपने पूरे समाज की मुक्ति की ओर अग्रसर करना है।

इसका सीधा अर्थ यह हुआ कि साहित्य में समाज का हूबहू दर्शन किया जा सकता है। परन्तु आधुनिक पंजाबी या हिन्दुस्तानी साहित्य को कसौटी पर रखते हुए जब हम इसका गंभीर अध्ययन करते हैं तो यह सच नजर नहीं आता। क्या समाज ऊंचे एवं मध्य और राजे-रानियों तक ही सीमित होता है? असल में साहित्य को समाज का आईना कहने वाले साहित्यकार सही अर्थों में साहित्य को समाज का आईना बनाने में असफल रहे हैं।

उन अनगिनत मनुष्यों को जिनके बेगार (मजदूरी) करने से इनकार करने पर नाक, कान और होंठ काट दिए गए, गंदगी उठाने से इनकार करने पर गरम सलाखों से आंखें निकाल दी गईं, विश्वविद्यालय में प्रथम आने पर मिट्टी का तेल डालकर जिन्दा जला दिया गया, शादी में घोड़े पर चढ़ कर जाने की जुरत करने पर पूरी बारात जला दी गई, पत्थर में कुएं खोदने के बाद कुएं से पानी पीने की जुरत करने पर हाथ काट दिए गए, मन्दिर महल मीनारें बनाईं, पर बनने के पश्चात अन्दर नहीं जा सके, भले ही कुत्ते, जीभ लटकाए, मछली की तरह तड़पते फिरें, फिर भी पानी पीने को एक बूंद भी नहीं दी गयी, भले ही जानवरों को उन्हीं के सामने नहलाया जाता रहा, बीज बोने से फल आने तक पेड़ों को छूने की तो छूट रही, परन्तु जब फल की तरफ हाथ बढ़े तो उनका हाथ लगने से पौधा अपवित्र हो गया, खेतों में गई मां-बहनों का

बलत्कार होने देने से रोकने पर झूठे चोरी के केस बनाये गए और गरम सलाखों से उनके गुप्तांग दाग उन्हें नंगा करके पूरे गांव में घुमाया गया, नन्हें बच्चे खेलते-खेलते भूल से भी मन्दिर की चौखट की ओर चले गए तो उनके टुकड़े-टुकड़े कर देवी मां की बलि चढ़ा दी गई। जब उनकी जात पूछी तो उनकी जुवान पर ताले पड़ गए और वह कांपने लग गए, जिनकी भगवान की वन्दना करने से जीभ काट दी गई, सुनने पर कानों में पिघलता सिक्का डाल दिया गया, यदि वह बराबर बैठने की जुर्रत किये तो उनके पुठे कटवा दिए गए, यदि उनका कोई अंग ऊंच जाति को छू गया तो उनका वह अंग कटवा दिया गया, यदि वह आम रास्ते से गए तो वह रास्ता भी अपवित्र हो गया, जिनके कानों में उपदेश पड़ने से उपदेश अपवित्र हो गए, पानी पीने से कुएं अपवित्र हो गए, क्या उनका पंजाबी या हिन्दुस्तानी साहित्य में कहीं जिक्र है?

ऋषि शम्बूक के तपस्या करने पर राम ने सिर कलम कर दिया, बहादुर बर्बरीक जिनका सिर भगवान श्री कृष्ण ने धोखे से काट लिया, वीर एकलव्य जिनका अंगूठा द्रोणाचार्य ने कटवा लिया, वो भंगी जो शिवाजी को कैद से छुडवा कर लाया, जिन्होंने गर्दन कटवा कर पृथ्वीराज के महल में संयुक्ता को पहुंचाया, भाई जैता जो गुरु तेग बहादुर जी का शीश उठा कर लाया, जिन पांचों दलित प्यारों ने गुरु गोविन्द सिंह जी को खालसा पंथ के सिरजन के लिए सिर पेश किये, जिस संगत सिंह जी ने जालिमों के विरुद्ध युद्ध जारी रखने के लिए गुरु गोविन्द सिंह जी के भेष में शहीदी प्राप्त की, जो चमकौर की गद्दी, और बन्दा बहादुर के साथ शहीद हुए, जिन्होंने मत्था रगड़ का सिर काटा, जिस पन्ना धाय ने मेवाड़ के राजपाट को बचाने के लिए अपना बच्चा अपनी आंखों के सामने बंद-बंद कटवाया, मातादीन जो 1857 के पहले स्वतंत्रता संग्राम का कारण बना, महावीरी देवी पासी, चमार केशव पिलई, रामचन्द्र भंगी, आजाद हिन्द फौज में चमार रेजीमेंट के कैप्टन मोहनलाल करीन, जालियां वाले बाग की कॉन्फ्रेंस के प्रबन्धक, दुलिया एवं नथु धोबी, चौरा-चोरी काण्ड में शहीद रामपति एवं सामपति जिनको अंग्रेजों ने फांसी लगाई, क्या इन योद्धाओं की बहादुरी का कहीं पर जिक्र है?

या फिर उन गद्दारों जिन्होंने मुहम्मद बिन कासिम के सिंध पर हमले के समय सिंध के राजा दाहर के फौजी कमांडर होते हुए कासिम से रिश्वत लेकर लड़ने से इन्कार किया, जयचन्द, जो मुहम्मद गौरी को बुलाकर लाया। जो शिवाजी को कैद करवा कर आए, चन्दू शाह सीये जिन्होंने गुरु तेग बहादुर जी के ऊपर गोली चलाई, जिन्होंने खालसा पंथ की सिरजना के समय माता गुजरी के पास गुरु जी की शिकायत गलत शब्दों में की, जिन्होंने गुरु जी के सिर मांगने पर सिर नीचे कर लिए, जो गुरुजी को बेदावा लिख कर दे गए, जिन्होंने लड़ने से पहले वेतन मांगे, जो मुसीबत के वक्त रात को गुरु जी का साथ छोड़ कर खिसक गए, जो गुरुजी को मझधार में छोड़कर

भागे, जिन्होंने गुरुजी को किला देने से इन्कार किया, सुच्चानन्द, मीर जाफर, सेठ अमीचन्द, कमाण्डर गुलाब चन्द, गंगू राम धवन, जस्टिस ठाकुर, एलगजेन्डर, बोफोर्स के एजेन्ट, और हर्षद मेहता आदि गद्दारों का कहीं जिक्र किया है?

फिर अपने स्वार्थ के लिए बालि और सुग्रीव भाइयों को लड़वाकर, बालि को छिप कर मारने वाले, लंका के राजा रावण और उसके भाई विभीषण को लड़वाने वाले, अग्नि परीक्षा लेने के बाद भी सीता को जंगल में छोड़ने वाले श्री रामचन्द्र को भगवान, मर्यादा पुरुषोत्तम कहकर मान बढ़ाना, या अपनी बहन की इज्जत की रक्षा करने वाले रावण को सजा देने की सराहना करना, औरत को भरे दरबार में नंगी करना और जुए में हार देने को भगवान की लीला कहना, राजसत्ता की भूख की आड़ में महाभारत की बरबादी का दोष औरतों को देना, देशद्रोही पुत्र प्रह्लाद को भक्त और देशधर्मी पिता राजा हिरण्यकश्यप को राक्षस कहना, वेद, महाभारत, गीता, रामायण, स्मृतियों के गुण-गान गाना, पर नीच जाति के ऐ. त्रिलूवर की तमिल रचना 'कुर्लवदेर', महात्मा फुले की 'गुलामीगिरी' स्वामी नायकर की 'सच्ची रामायण', डॉ. अम्बेडकर के 'बुद्ध और उनका धर्म' का नाम तक न लेना, रामानन्द के भक्ति आन्दोलन को उत्तरी भारत में बढ़ाना पर दक्षिण में पांचवीं ईसवी से आठवीं ईसवी तक भक्ति आन्दोलन के प्रमुख अलवार सन्तों की रचनाओं को दबाना, 'ढोल गंवार सूद्र पसु नारी' को ताड़ने का उपदेश देने वाले तुलसीदास की महिमा का गुण-गान करना, पर शूद्र और औरत के मुक्तिदाता डॉ. अम्बेडकर की महिमा का गुण-गान न करना, स्वामी दयानन्द के आर्यसमाज और रामकृष्ण मिशन की सिरजना के संकल्प को उभारना, पर डॉ. अम्बेडकर के 'धमचक्कर परिवर्तन' पर पाबन्दी लगाने की सराहना करना क्या उचित है?

सिन्धु, मोहनजोदड़ों, हड़प्पा, संधाल संस्कृति और इनकी बनी मूर्तियां, मिट्टी के खिलौने, मौर्य काल के स्तूप, चैत्य-स्तम्भ, शुंग काल की देव प्रतिमाएं, कुषाण काल के गंधार शैली में निर्मित श्रावस्ती, कोशांबी, सारनाथ, सांची के शिल्प, गुप्त कालीन अजन्ता गुफाएं, मथुरा-देवगढ़ के मन्दिर, कांची का कैलाश नाथ मन्दिर, विभिन्न गुफाओं की भित्तियों पर उत्कीर्ण चित्र, प्रतापी राष्ट्रकुलों द्वारा निर्मित बेरूल का भव्य कैलाश मंदिर, उत्तर मध्य काल में निर्मित खजुराहो; अबु और शत्रुजय, तंजावर और हल्लेबिड; भुवनेश्वर और कोणार्क के कलाकेन्द्र, दक्षिण भारत के मीनाक्षी मन्दिर जैसे कितने ही भव्य मंदिर, गोम्मटेश्वर जैसी प्रचंड मूर्तियां, भारतीय संस्कृति का अक्षुण्ण वैभव हैं। इन्हें निर्माण करने वाले हजारों शूद्र कलाकारों के नाम कोई नहीं जानता, पर उनकी कला का सूरज निरंतर चमक रहा है। क्या कहीं किसी भाषा के साहित्य में इनका जिक्र है?

आजादी की पहली लड़ाई, 1857 ई. के गदर में, अंग्रेजों के साथ समझौते के

लिए बेताब झांसी की रानी लक्ष्मी बाई के लड़ने की झूठी कहानी बनाना, पर उनकी अछूत सेनापति झलकारी बाई और उनके पति पूरन कोरी जो अंग्रेजों के साथ लड़ते हुए शहीद हुए, का कहीं जिक्र न करना, नाना साहिब, तांत्या टोपे, राजा कमर सिंह, नवाब अलीशाह की बगावत का वर्णन करना, पर आदिवासी बिरसा मुण्डा की बगावत का जिक्र न करना, शहीद ऊधम सिंह की योजना की कहानी को उछालना, पर खुसरो भंगी की योजना का कहीं जिक्र न करना, अछूतों के अधिकारों का पता लगाने के लिए आ रहे सायमन कमीशन का विरोध करने वाले लाला लाजपत राय जिनकी मृत्यु बीमारी के कारण हुई, को शेर पंजाब और शहीद कहना, तिलक, नेहरू, गांधी, पटेल को आजादी संग्राम के नायक बताना, पर अधिकार युद्ध लड़ने वाले डॉ. अम्बेडकर को खलनायक दिखाना, क्या साहित्य है? यह साहित्य नहीं बल्कि साहित्य के नाम पर कलंक है। इस कलंक को धोने के लिये ही दलित साहित्य का उदय हुआ है।

दलित साहित्य की विशेषताओं, प्रेरणाओं का स्वभाव पूरी तरह अलग है। स्थिति का भेद, इसमें उठ रहे विचारों के भावनात्मक तत्वों में खोजा जा सकता है, जिसे लगातार तेज बुद्धि चिन्तनशील, विवेकात्मक विद्रोही बाबा साहिब जैसी शख्सियत ने ब्राह्मणवादी धार्मिक ग्रन्थों का गंभीर अध्ययन करने के बाद, न केवल उनकी निन्दा ही की, बल्कि समूचे हिन्दी साहित्य और सभ्यता पर ही प्रश्नचिह्न लगा दिया। इसमें दलितों का साहित्य एवं सभ्यता दिखाई नहीं देते। उन्होंने इसके विपरीत मानव मुक्ति की लड़ाई को तेज करने के लिए आजादी, सामानता, भाईचारे एवं न्याय के आधार पर नई सभ्यता का उल्लेख कर दलित साहित्य को जीवित करने की शहनाई बजाई। बाबा साहिब अम्बेडकर ने दलित साहित्य के बीज बोए। इस सैद्धान्तिक विचारधारा से प्रभावित समूह अपनी 'हींद' की खोज करने लगा है! इस समूह की विचारधारा ही दलित साहित्य का आधार है।

भक्त और गुरु साहिबान पंजाबी साहित्य के प्रमुख चिन्ह हैं क्योंकि इन्होंने सच और हकीकत को प्रकाशित किया एवं झूठ के परदे को हटाया है। आजादी समानता, भाईचारा और न्याय का बिगुल बजाया। गुरु ग्रंथ साहब प्रमुख तौर पर दलित चेतना का प्रतिनिधित्व करता है। गुरुओं ने बोली भी पंजाबी अपनाई जिसको दलितों की बोली कहा जाता था। गुरुओं ने दलितों की बोली को, दैवी कही जाती संस्कृत भाषा के बराबर ला खड़ा किया और खुद दलितों के साथ खड़े हुए। गुरु नानक देव जी का नीचे दिया हुआ फरमान उल्लेखनीय है शायद हिन्दुस्तानी साहित्य में इससे बढ़ कर कोई क्रान्तिकारी लाइन नहीं लिखी गई होगी

‘नीचा अन्दर नीच जाति, नीची हुआती नीच

नानक तिनके संग साथ, बड़ों की क्या रीस।

गुरु रविदास जी वर्णाश्रम आधारित लूटमई व्यवस्था को खत्म करके, जाति-विहीन,

वर्ग-रहित करके, समाज की 'सिरजना' के लिए फरमाते हैं
 बेगमपुर शहर के नाम दुख अन्दर नहीं लहो ठाऊ ॥
 न तसवीस खराज न माल, खौफ न खता न तरस जवाल ॥
 अब मोह खूब बनन गह पाई, वहां खैर सदा मेरे भाई ॥
 कायम-दायम सदा पातसाही, दोम न सीम एक सोबाही ॥
 वर्ण व्यवस्था के जन्मदाता और पोषक ब्राह्मण से कबीर जी पूछते हैं
 जे तू ब्राह्मण ब्राह्मणी जाया, तो आन-बाट काहे न आया ॥
 तुम कत ब्राह्मण हम कत शूद, हम कत लेहू तुम कत दूध ॥
 गुरु गोविन्द सिंह जी ने एलान करके कहा कि मैं आया ही शूद्रों को सरदारी
 देने के लिए हूँ। इसके पश्चात और कोई धर्म-कर्म नहीं है
 नाम गरीब नवाज हमारा। है जग में प्रसिद्ध अपारा ॥
 सो सफला जग में तब थै है। लघु जातों को बड़प्पन दे है ॥
 जिनकी जाति वर्ण कुल नाही। सरदारी नहीं भई कदाही ॥
 इन्हीं को सरदार बनाऊं। तभी गोविन्द सिंह नाम कहाऊं ॥

(पंथ प्रकाश-ग्यानी ग्यान सिंह)

इसलिए गुरु ग्रन्थ साहब को दलित साहित्य का मोठी (मूल) ग्रंथ कहा जा सकता है। आधुनिक पंजाबी साहित्य की शुरूआत अंग्रेजी राज्य की स्थापना के बाद हुई। पंजाबी में शैक्षणिक, सामाजिक, धार्मिक, राजसी विचार में आई तब्दीलियों के कारण बदलाव हुआ। तब तक कई सैद्धान्तिक लहरें उत्पन्न हुईं, जिनमें से ईसाई प्रचारक (मिशनरी), आर्य समाज, सिंह सभा, ब्रह्मों समाज, नामधारी लहर, आदि-धर्म, चीफ खालसा दिवान आदि महत्व रखते हैं।

भाई वीर सिंह ने नई पंजाबी कविता की नींव रखी किन्तु विषय पक्ष से वह साधारण मनुष्य की समस्याओं के नजदीक कभी नहीं गए। 1936 ई से मुंशी प्रेमचन्द की अगुवाई में सारे भारत के प्रगतिशील लेखकों का सम्मेलन हुआ और प्रगतिशील विचारों के प्रचार का मत भी पास हुआ। प्रगतिशील लहर का प्रभाव पंजाब पर भी बहुत जल्दी पड़ना शुरू हुआ। समाजवादी विचारधारा के समर्थक संत सिंह सेखो ने पश्चिमी सभ्यता के प्रभावाधीन कहानी लिखनी शुरू की। प्रो. मोहन सिंह, सुजान सिंह, बाबा बलवन्त, प्रीतम सिंह सफीर, बलवन्त गार्गी, गुरुबख्श सिंह, अमृता 'प्रीतम', जसवंत सिंह 'कमल', संतोष सिंह 'धीर', महेन्द्र सिंह, लाल सिंह कंवर, डॉ. अमरीक सिंह भी साथ आ मिले।

आधुनिक पंजाबी साहित्य के उपरोक्त कारवां में किसान की लूट, पीड़ा, दर्द का उल्लेख तो है, किन्तु उसके साथ काम करने वाले 'सीरी' (मजदूर) की लूट, पीड़ा, और दर्द का कहीं भी वर्णन नहीं मिलता। खेतों में रोटी लेकर जाती जड़ी की मटक

की सराहना तो है परन्तु खेतों से भीगी चोल की तरह घास का गट्टर लेकर आती चमारी-चूड़ी की दस्तान की निन्दा कहीं नहीं है। गिद्दे में नाचती मुटियार की महती का जिक्र तो है, परन्तु सिर पर गंदगी उठाए जाती मुटियार की 'निमोसी' का वर्णन नहीं है। सड़क पर कॉलेज को जाती नौजवान लड़की की सुन्दरता की बात तो है परन्तु सड़क पर रोड़े तोड़ती नौजवान लड़की की कुरूपता की कहानी की बात नहीं है। धर्म एवं समाज के ठेकेदारों ने किसान को बेदखल करने, दूधारू जानवरों को जबरदस्ती खोलकर ले जाने की गाथा तो गाई परन्तु मरे जानवरों को उठाने से इनकार करने पर अछूत बस्ती को लगाई गई आग, 'साड़-फूक', मार-धाड़ और गांव से भगाए गए अछूतों की गाथा कहीं नहीं गाई है। हाड़ो, गेहूं की कटाई सम्भालने के बाद मेले में गए जट्ट की खुशी का 'प्रगटावा' तो है। माल टांडा (भूसा) सम्भालने के लिए पीछे छोड़े गए चमार की गमी का गुस्सा कहीं नहीं है। इश्क का आदर्श, काम-पूति और हुस्न की शारीरिक सुन्दरता का वर्णन तो है परन्तु इनकी सफलता में बाधा बनी मानसिक सोच पर आधारित जाति और दलित औरतों के साथ किए गए सामूहिक बलात्कारों का वर्णन नहीं है। दो गुटों में बंटी दुनियां के लोगों की कल्पना तो है, परंतु छः हजार जातियों में बंटी दुनियां की सच्चाई का, प्रत्यक्ष प्रमाण का वर्णन नहीं है। पगडंडियों की 'वंड' (बंटवारे) को खत्म करने का सपना तो है परंतु समाज को तोड़ने वाली व्यापक छुआछूत और जात-पात को खत्म करने का ख्याल नहीं है। किसान के धन, धर्म का अध्ययन करने और जमीन के खोने का वर्णन तो है परंतु करोड़ों दलितों का जो वेद ग्रन्थ नहीं पढ़ सकते थे और ना ही उसका अध्ययन कर सकते थे, ना ही सामाजिक जायदाद पर उनका कोई अधिकार था, न शहर और गांव की हद्द के अंदर वह रह सकते थे, तीनों वर्गों की सेवा के सिवाय उनकी कोई व्यक्तिगत या सामाजिक हस्ती नहीं थी, इनकी दास्तान का वर्णन कहीं नहीं मिलता, जबकि दुखी और पीड़ित मनुष्य का दर्दमन्द होना साहित्यकार का मुख्य लक्षण है जो पंजाबी के हजारों साहित्यकारों में दिखाई नहीं पड़ता। यहां आकर पूरे पंजाबी साहित्य पर प्रश्नचिह्न लगा है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आधुनिक पंजाबी साहित्य में समाजवादी विचार दिन-प्रतिदिन बढ़ते गए, परंतु अफसोस इस बात का है कि इन सभी साहित्यकारों का ध्यान मध्यवर्ग के लोगों तक सीमित रहा। किसी ने भी अपनी रचना में भारतीय समाज में आंखों से ओझल किए, नीच पुकारे जाने वाले कुत्ते-बिल्ली एवं पशुओं के समान दुल्कारे और अत्याचारों से पीड़ित लोगों में से नायक एवं उपनायक नहीं बनाया। यहां आकर प्रगतिशील मार्क्सवादी विचारों के साहित्यकारों की बात 'मखौल' (मजाक) लगती है।

असल में यह सब साहित्यकार भी मध्यम वर्ग से आये थे। इनको उन

परिस्थितियों में गुजरना नहीं पड़ा और ना ही उन्होंने उनमें घुसने की कोशिश ही की। केन्द्रीय पंजाबी साहित्य-सभा के प्रधान संत सिंह सेखो यह बात स्वीकार करते हैं 'हम दलितों के बारे में क्या लिखें, जब हमें उनकी समस्याओं का एहसास ही नहीं है।'

यही कारण है कि प्रगतिवादी पंजाबी साहित्य और हिन्दुस्तानी साहित्य के होते हुए भी दलित साहित्य पनप रहा है। दलित साहित्यकार उपरोक्त समस्याओं से खुद पीड़ित हुए हैं। उन्होंने भेद-भाव, नफरत, दुख-दर्द, दमन, लूट और अत्याचार आंखों से देखे और सहे हैं और उनको अपनी रचना में हू-ब-हू अंकित किया है। दूसरा वह इसके प्रति गुस्सा और रोष जाहिर करते समय, शब्दों तक ही सीमित नहीं रहते, बल्कि संघर्ष में भी उतर जाते हैं।

दलित साहित्य, दलित वर्ग के 'हड्ड', खून मांस की रंगत है! यह वह इन्सान नहीं है जो आरामदेह चारदीवारी के अन्दर बंद किसी न किसी धार्मिक भावना से प्रेरित मध्यवर्गी होता है। बल्कि यह वह इन्सान है जिसको आज तक पुरातन साहित्य ने आंखों से ओझल किया है. नायक नहीं बनाया बल्कि राक्षस कहा और सदियों से पांव के नीचे कुचलता रहा है। सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक (सभ्याचारक) और हर क्षेत्र में दुत्कारा जाता रहा है। ब्राह्मणवादी व्यवस्था के नीचे दबा हुआ है।

दलित साहित्य आपफरे (पेटफूले) लोगों का साहित्य नहीं है बल्कि मेहनतकश एवं पीड़ित लोगों का साहित्य है। बचपन से लेकर मृत्यु तक उनको जिस अपमान, नफरत, लूट, असह्य गरीबी से गुजरना पड़ता है, उसको प्रबल रूप में वे अपनी लेखनी में पेश करते हैं। इसमें शुरू से अन्त तक अपनापन दिखाई देता है। दलित साहित्य को पढ़ते वक्त कभी भी ऐसा नहीं लगता कि वह हवा में बातें कर रहे हैं या अंधविश्वास, कर्मकाण्ड नर्क-स्वर्ग आदि के बारे में बेकार बातें कर रहे हैं, बल्कि महसूस होता है कि वह मनुष्य की मानसिक गुलामी का वर्णन अपनी लेखनी द्वारा कर रहे हैं।

पंजाबी के दलित साहित्यकारों में गुरुदास रामआलम, चरण सिंह सफरी, अमृता प्रीतम, संत राम उदासी, एम.एल. बिरदी, बल्देव बब्बीहा, लालसिंह दिल, अवतार सिंह 'पाश', गुरमीत, कल्लर माजरी, धर्म काम्याना, गुरुचरण सिंह राव, बंसों देवी, केवल सावरा, सोहन साहजल, प्रीतम राम दास पुरी, एकबाल धारू, गुरुनाम सिंह, चरणदास निधड़क, डॉक्टर जागीर सिंह 'नूर', जगदीश कल्लर, अजीत चंद निमता, कमल देव पाल, सुरजीत कलसी, अमरजीत कौंके, भूमिन्द्र आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

दलित साहित्य मनुष्य को अपनी धुरी मानता है। ज्ञान-विज्ञान और वर्तमान समय इसके केन्द्र बिन्दु हैं। इसकी स्पष्ट धारणा है कि सम्पूर्ण विश्व का नामकरण मनुष्य ही ने ही किया है। वर्ण-जाति, देव, धर्म, ग्रंथ, कर्मकाण्ड, नरक-स्वर्ग, किस्मत

सब कल्पना है। जिसको खत्म किया जा सकता है। परंतु मनुष्य को खत्म नहीं किया सकता क्योंकि मनुष्य के खात्मे का अर्थ है परलोक। इसलिए सब कला, साहित्य का नायक मनुष्य है।

दलित साहित्य में भाषावाद, प्रांतवाद और राष्ट्र-द्रोह नहीं है। दलित साहित्य मनुष्य को ही सर्वोत्तम मानता है। मनुष्य की महानता के लिए जो कुछ भी अच्छा हो रहा है वह सब कुछ दलित साहित्य ही है। मानवता के लिए संघर्ष करने वाले लेखक बेशक विदेशी, रूस के गोर्की, जर्मनी के हूडो, तुर्की के नाजम हिकमत, जर्मनी के तामस मान, फ्रान्स के सारतर, अमरीका के रून् के ऋषिदि भी हों तो वे अपने हैं। जातिवाद, नफरत, अन्धविश्वास और लूट फैलाने वाला बेशक जामवल भाई भी हो, तो वह हमारा कुछ नहीं लगता। 'सगों' (बल्कि) बेगाना है।

दलित साहित्य का मतलब मानवी कदर, आजादी, समानता, भाईचारा और न्याय पर आधारित जात और जमात-विहीन समाज 'सिरजना' करना है। इसकी पूर्ति के लिए दलित लेखक मुक्ति का मशालची होगा और लेखक ही नहीं बल्कि लड़ाकू सिपाही की तरह लोक लहरों में भाग लेकर और

इन्सान की इन्सान द्वारा लूट को खत्म करने के लिए
सामाजिक तरफो, जातिवाद, फिरकापरस्ती, मूलवादक, जन्म और लिंग पर
आधारित हर प्रकार की ना बराबरी के विरुद्ध;
आर्थिक स्तर पर सामन्तवाद और पूंजीवाद के विरुद्ध;
सियासी तौर पर साम्राज्य और फासीवाद के विरुद्ध;
सांस्कृतिक तौर पर हर प्रकार के ढोंगी, अत्याचारी, कुचलन, 'लुटेरे सम्पाचार
लुटेरे संस्कृति के विरुद्ध, सर्वव्यापी युद्ध छेड़ेगा और यह युद्ध तब तक
जारी रखेगा जब तक मनुष्य के दुख-दर्द, पीड़ा और लूट खत्म नहीं हो जाते
और मनुष्य मुक्त नहीं हो जाता।

जय प्रकाश कर्दम
साहित्य और समाज कुछ प्रश्न

साहित्य शब्द सहित इन दो अवयवों से मिलकर बना है। इसका शाब्दिक अर्थ है सहित सहित। अर्थात् ऐसा सृजन जो हितकर हो, कल्याणकारी हो, साहित्य कहलाता है। साहित्य का सम्बन्ध मानव से है इसलिए ऐसे सृजन को साहित्य कहा जाना चाहिए जो मानव के कल्याण में उसके उत्थान और विकास में सहायक हो।

प्रामाणिक हिन्दी कोश के अनुसार साहित्य में सहित या साथ होने, रहने या मिलने का भाव है। इस अर्थ में साहित्य का तात्पर्य होना चाहिए ऐसा सृजन जिसमें सब साथ हों, जिसमें सब मिले हों जो सबका प्रतिनिधित्व करता हो। सबका अर्थात् समूचे समाज का, सभी धर्मों, संप्रदायों, जातियों-उपजातियों का।

मूर्धन्य साहित्यकार श्री काका साहब कालेलकर के अनुसार, 'साहित्य वह वाङ्मयीन प्रवृत्ति या व्यापार है जिसके द्वारा जीवन समृद्ध हो सकता है।' अर्थात् साहित्य वह है जो जीवन को सुखी और समृद्ध बना सकता है। समृद्धि को स्पष्ट करते हुए कालेलकर साहेब ने कहा है 'समृद्धि जीवन की होनी चाहिए। साधन समृद्धि, जानकारी की समृद्धि, शब्द समृद्धि या सहूलियतों की बहुतायत की बात नहीं है शब्द कोश भाषा के लिए आवश्यक वस्तु है परन्तु कोई उसे साहित्य नहीं कहता। उसमें शब्द समृद्धि और अर्थ समृद्धि दोनों हैं किंतु फिर भी उसे कोई साहित्य नहीं कहता।' कालेलकर साहब के इस कथन से स्पष्ट है कि शब्दकोश को इसलिए साहित्य नहीं कहा जा सकता क्योंकि उसमें जीवन समृद्धि का अभाव है। इस दृष्टिकोण से भी जीवन की समृद्धि अर्थात् हित ही साहित्य का उद्देश्य है।

श्री सुरेन्द्र नाथ त्रिपाठी (साहित्य, कला और रुचि) के अनुसार साहित्य एकतामूलक शब्द है, संगठन मूलक है सहित रहने का भाव है। जो कुछ विघटनकारी है अतएव अनिष्टबोधक है, साहित्य की दिशा उससे विपरीत है। वह मनुष्य को समाज से, समाज को देश से, देश को जगत से और जगत को प्रकृति से जोड़ता है।

इससे स्पष्ट होता है कि साहित्य और समाज के बीच घनिष्ठ संबंध होता है। प्रसिद्ध समाजशास्त्री रेने-आस्टिन के अनुसार, साहित्य एक सामाजिक संस्था है वह जीवन को प्रतिबिंबित करता है स्वयं साहित्यकार भी समाज का सदस्य होता है उसकी एक खास सामाजिक हैसियत होती है सच कहें तो साहित्य सामाजिक प्रक्रिया का प्रतिबिंब नहीं है, अपितु समग्र इतिहास का सारतत्व और निचोड़ है। साहित्यकार समाज से केवल प्रभावित ही नहीं होता, वह उसे प्रभावित भी करता है।

मक्सिम गोर्की के अनुसार, 'साहित्यकार अपने देश, अपने वर्ग की अनुभूति उसका कान, आंख और हृदय अपने युग की आवाज होता है।' वस्तुतः साहित्यकार अपने समय का युगदृष्टा और प्रतिनिधि होता है। वह न केवल समाज को एक दिशा देता है बल्कि वह सामाजिक क्रांति का संवाहक भी होता है। क्रांति होती है अन्याय के विरुद्ध, असमानता के विरुद्ध शोषण और उत्पीड़न के विरुद्ध। क्रांति का तात्पर्य हिंसा या रक्तपात से नहीं है अपितु क्रांति से तात्पर्य होता है उस व्यवस्था में आमूल-चूल परिवर्तन जो अन्याय, उत्पीड़न और असमानता पर टिकी हुई हो।

भारत की सामाजिक व्यवस्था सदियों से असमानता, अन्याय और उत्पीड़न पर टिकी रही है। तब प्रश्न खड़ा होता है कि भारत में सामाजिक क्रांति की धारा क्यों प्रभावित नहीं हो सकती? क्यों शताब्दियों पहले की चार्तुवर्ण व्यवस्था आज भी कायम है, ब्राह्मण आज भी समाज में जन्मना सर्वोच्च सम्मान का अधिकारी है। देश के अधिकांश गांव अभी भी उच्च अथवा मध्यवर्गीय भू-स्वामियों के शिंकजे में हैं। दलितों को आज भी घृणा और उपेक्षा का जहर पीना पड़ता है। आज भी उन्हें निर्ममता से मारा-पीटा जाता है। उनकी झुग्गी-झोपड़ियों को जलाकर भस्म किया जाता है। दलित समाज का दूल्हा बहुत से स्थानों पर आज भी घोड़ी पर चढ़कर नहीं निकल सकता। सवर्णों के सामने दलित लोग आज भी अपने घरों में खाट पर नहीं बैठ सकते। बेलछी जैसे गांव में आज भी दर्जनों की तादाद में निरीह दलितों और उनके मासूम बीबी-बच्चों को दिन-दहाड़े आग में झोंक दिया जाता है। उनकी बहन-बेटियों की आज भी सरे-आम इज्जत लूटी जाती है। कहने का तात्पर्य यह है कि देश की समाज-व्यवस्था में कहीं कोई परिवर्तन दिखाई नहीं पड़ता है। जबकि इस दौरान ढेर सारा साहित्य लिखा गया है। यह सब क्यों है? इसका कारण है दलितों की समाज में अस्वीकृति। लेकिन दलितों को आज तक समाज में स्वीकृति क्यों नहीं मिल पायी? समाज में इस तरह की मानसिकता का विकास क्यों नहीं हो पाया? यह जिम्मेदारी किसकी है? साहित्य के विषय में कहा जाता है कि वह समाज को प्रभावित करता है। किंतु यदि कोई साहित्य संवेग पैदा न कर सके, समाज के दृष्टिकोण में सार्थक बदलाव नहीं ला सके तो उसका औचित्य क्या है?

प्रेमचन्द के अनुसार 'साहित्यकार मानवता, दिव्यता और भद्रता का बाना बांधे

होता है। जो दलित है, पीड़ित है वंचित है चाहे वह व्यक्ति हो या वर्ग उसकी हिमायत और वकालत करना उसका फर्ज होता है।'

डॉ. राजकुमार वर्मा की मान्यता है कि साहित्य मानवता का इतिहास है।

तब प्रश्न उठता है कि भारत में कितने साहित्यकारों ने दलित-पीड़ितों की सच्चे मन से हिमायत या वकालत की है?

एक ओर कहा जाता है कि सच्चा साहित्य वही है जो जनता के जीवन को प्राणमय और रसमय बना दे। दूसरी ओर कहा जाता है कि साहित्य समाज का आधार होता है। हमारा भावी सामाजिक जीवन कैसा होगा न्यूनाधिक रूप से यह इस बात पर निर्भर करता है कि आज किस तरह का साहित्य लिखा जा रहा है। कहने की आवश्यकता नहीं है कि जनता का जीवन प्राणमय और रसमय तब बनता है जब सारी जनता परस्पर समता, स्वतंत्रता और भाईचारे के साथ रहती है। लेकिन यदि जनता का एक बहुत बड़ा वर्ग अपमान, उपेक्षा और परतंत्रता का जीवन जीता हो तो जनता का जीवन प्राणमय और रसमय कैसे हो सकता है? यदि दलित भी मनुष्य हैं तथा अन्य मनुष्यों की भांति उनको भी सम्मान तथा स्वाभिमानपूर्वक जीने का हक है तो उनके जीवन को प्राणमय और रसमय बनाने वाला साहित्य आज तक क्यों नहीं लिखा गया?

श्री नरेशचन्द्र चतुर्वेदी (साहित्य चिंतन) के अनुसार 'किसी भी साहित्यिक कृति की रसवत्ता उसकी मूलनिधि और लोकरंजन तथा लोकमंगल की भावना उसकी सिद्ध हुआ करती है। लेकिन यहां यह कहना अनुचित नहीं होगा कि भूखा पेट सौन्दर्य की गहराइयों में नहीं उतर सकता। अपमान और उत्पीड़न के अहसास के साथ जीने वाले व्यक्ति को इसकी अनुभूति नहीं हो सकती। रसों का आस्वादन उसे ही हो सकता है जिसका पेट भरा हो और मस्तिष्क किसी भी तरह की चिंताओं से रहित हो, अपने अपमान से पीड़ित और पेट की क्षुधा से त्रस्त व्यक्ति को नहीं। लोकरंजन का जहां तक सम्बन्ध है तुलसीदास कृत रामचरित मानस एक अत्यन्त लोकप्रिय रचना है। इस काव्यकृति ने धर्मग्रन्थ का स्थान ले लिया है। वेद और उपनिषदों को आज लोग नहीं पढ़ते, आज गीता और रामचरितमानस को पढ़ा जाता है। आज के वेद ये ही हैं। घरों में रामचरित मानस के अखण्ड पाठ होते हैं। यहां तक रेलों में भी दैनिक यात्री रामचरित मानस की चौपाइयां बड़ी श्रद्धा और भक्ति से गाते हुए जाते हैं। यह रामचरित मानस की लोकप्रियता का प्रमाण है। रामचरित मानस की इस लोकप्रियता के कारण तुलसीदास को लोकनायक तक का दर्जा दिया जाता है, लेकिन इसी रामचरित मानस में तुलसीदास लिखते हैं

पूजिय विप्र ज्ञान-गुन हीना

सूद्र न गुन मन ज्ञान प्रवीन ।

अर्थात् ब्राह्मण की हर हालत में पूजा होनी चाहिए चाहे वह ज्ञान और गुणों से हीन क्यों न हो। लेकिन शूद्र चाहे कितना ही गुणवान और ज्ञानवान क्यों न हो उसकी पूजा कदापि नहीं की जानी चाहिए। तुलसीदास के अनुसार मूर्ख, अज्ञानी और पागल होते हुए भी एक ब्राह्मण गुणवान शूद्र की अपेक्षा श्रेष्ठ है। यही नहीं शूद्र को तो उन्होंने पशु के समान माना है और उसकी प्रतारणा का आदेश दिया है, यथा

ढोल, गंवार, सूद्र, पसु, नारी
ये सब ताड़न के अधिकारी।

यह दुनिया का सत्य है कि जहां अच्छाई है वहां बुराई भी है, जहां गुण है वहां अवगुण भी है, जहां ज्ञान है वहां अज्ञान भी है, जहां अन्धकार है वहां प्रकाश भी संभव है। जिस तरह कि हाथ की पांचों अंगुलियां बराबर नहीं होतीं, एक ही बाप के चार बेटे शिक्षा, संस्कार, गुण, शक्ति और सौन्दर्य में समान नहीं होते उसी तरह एक ही जाति के सब लोग ज्ञान, गुण और संस्कारों में समान नहीं हो सकते। जिस जाति में विद्वान और गुणी लोग होंगे उसमें मूर्ख और गुणहीन भी हो सकते हैं और जिस जाति में अज्ञानी और गुणहीन लोग होंगे वहां ज्ञानी और गुणवान लोग भी अवश्य होंगे। तब ब्राह्मण की हर हालत में पूजा तथा शूद्र को प्रतारणा का निर्देश करना न केवल अनुचित और एकांगी अपितु मानवता के सर्वथा विपरीत है।

बच्चा जब पैदा होता है तो उसका मस्तिष्क एक कोरे कागज के समान होता है। वह साक्षर-निरक्षर, गुणवान-गुणहीन, ज्ञानी-अज्ञानी, सभ्य-असभ्य, सदाचारी-दुराचारी, नैतिक-अनैतिक, धर्मी-अधर्मी, बाद में बनता है। चाहे वह ब्राह्मण के घर में पैदा हुआ हो या शूद्र के घर में। तब यदि जन्म से कुछ भी निर्धारित नहीं होता, कुछ भी पीछे से नहीं आता है तब जन्म के आधार पर एक व्यक्ति को श्रेष्ठ और पूज्य तथा दूसरे को हीन और घृणित क्यों माना जाए?

लेकिन रामचरितमानस में ऐसा निर्देश है। यह तुलसीदास की मानसिक संकीर्णता और उनके ब्राह्मणवादी मनुवादी पूर्वाग्रह का द्योतक है। इससे भी ज्यादा अफसोस की बात तो यह है कि इस संकीर्ण और दुराग्रही चिंतन के पक्ष में तरह-तरह के तर्क दिए जाते हैं, जबकि यह सच है कि रामचरितमानस न केवल ऊंच-नीच और छूआ-छूत को जन्म देने वाली वर्ण एवं जाति-व्यवस्था के पोषण का दस्तावेज है बल्कि यह दलितों के दमन और शोषण का धमदेश है। इस तरह की रचनाओं से दलितों का किसी भी रूप में, किसी भी तरह का, कोई हित अथवा कल्याण सम्भव नहीं है।

यही हाल गीता का है। रामचरित मानस की तरह गीता को भी धर्मग्रन्थ का दर्जा प्राप्त है। उसे भी पूरी श्रद्धा और भक्ति-भाव से पढ़ा जाता है। गीता को नीति और न्याय धर्म का सर्वोच्च आदर्श ग्रन्थ माना जाता है, यही कारण है कि उसे इतना

महत्व प्राप्त है कि न्यायालयों तक में बयान या गवाही देने वाले व्यक्ति से गीता पर हाथ रखकर सत्य बोलने का वचन लिया जाता है। गीता व्यासकृत महाभारत का एक भाग है, कृष्ण द्वारा अर्जुन को दिया गया नैतिक उपदेश है। गीता में निश्चित सिद्धान्तों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण सिद्धान्त है निष्काम कर्मयोग। अर्थात् बिना फल की कामना किए कर्म करना। पढ़ने और सुनने में यह सिद्धान्त बड़ा अच्छा लगता है किन्तु इसकी गहराई में जाएं तो देखते हैं कि दलितों के लिए यह सिद्धान्त अहितकर और विरोधी है। एक गरीब मजदूर किसी के खेत में काम करता है। गीता में उस मजदूर के लिए निर्देश है कि बस कर्म कर, अपनी पूरी निष्ठा और क्षमता से मेहनत कर। कितनी मजदूरी मिलेगी या मिलनी चाहिए इस पर ध्यान मत दे। मजदूरी का मामला मालिक पर छोड़ दे। मालिक स्वेच्छा से जो दे उसे सहर्ष स्वीकार कर। वह कुछ न भी दे तो भी उसकी चिंता मत कर, उस ओर बिल्कुल ध्यान मत दे, तेरा धर्म है मेहनत करना और तू अपने धर्म का पालन कर। दलित-मजदूरों ने सदैव अपना धर्म निभाया और पूरी मेहनत से मालिकों के घर, खेत और मिलों में कार्य कर अपना खून-पसीना एक किया है लेकिन मालिकों ने उन्हें कभी उनकी मेहनत की उचित मजदूरी नहीं दी। उन्होंने कभी अपने धर्म का पालन नहीं किया। आखिर उनका भी तो कुछ धर्म होता होगा। यदि दलितों ने 'निष्काम-कर्म' के चक्कर में न आकर अपनी मेहनत की उचित मजदूरी तय करके ली होती तो वे न आज बन्धुआ मजदूर होते, न झुग्गी-झोपड़ियों में भूखे-नंगे रहने को अभिशप्त होते। उनकी आर्थिक और सामाजिक स्थिति आज निश्चित रूप से बेहतर होती। वस्तुतः गीता भी दलितों के शोषण का एक धमदिश है और दलितों के लिए उतना ही अहितकर और खतरनाक है जितना कि रामचरित मानस।

रामचरित मानस में राम और महाभारत में कृष्ण महानायक हैं। इन दोनों रचनाओं में इन दोनों ही दिव्य नायकों की महिमा का गान है। राम को 'मर्यादा पुरुषोत्तम' और कृष्ण को 'कर्मयोगी' कहा गया है। इनके युगों को श्रेष्ठ युग बताया गया है। लेकिन राम के समय में राम ने खुद अपनी तलवार से शूद्र ऋषि शम्बूक की गर्दन काटी और कृष्ण के काल में कृष्ण के इशारे पर शूद्र धनुर्धर एकलव्य का अंगूठा काटकर उसे धनुष चलाने के अयोग्य बनाया गया। शम्बूक और एकलव्य के विषय में इन ग्रन्थों में कहा गया है कि वे अपनी-अपनी मर्यादाओं का उल्लंघन कर रहे थे। उनके राज्य की उन्नति उजागर होती है वह यह है कि शम्बूक और एकलव्य दोनों का दोष यह था कि उन्होंने स्वयं को शूद्र नहीं मनुष्य माना तथा वेदों में निहित चातुर्वर्ण व्यवस्था को नकार कर दूसरे मनुष्यों के समान उद्योग किया।

श्री पुरुषोत्तम अग्रवाल ने अपने लेख 'सीता शम्बूक और हम' (नवभारत टाइम्स 26-4-1991) में ठीक ही लिखा है कि शम्बूक कोई चोरी-डकैती करता नहीं

मारा गया था, बल्कि वह शूद्र होकर पुण्यात्मा बनने के सपने देख रहा था। सरल शब्दों में शम्बूक और एकलव्य का यह हस्र इसलिए हुआ क्योंकि वे दोनों अपनी औकात से बाहर जा रहे थे और उसी की सजा उनको मिली। वस्तुतः शूद्रों या दलितों को अपने समान न आने देने की मानसिकता ही भारत में तथाकथित सवर्ण समाज की सदियों से रही है जो आज भी कायम है।

रामायण और महाभारत तो केवल उदाहरण मात्र हैं अन्यथा हिन्दी में साहित्य के नाम पर आज तक जो कुछ भी लिखा गया है कुछ अपवादों को छोड़कर वह सब इसी भावना से प्रेरित रहा है। दूसरी भाषाओं में लिखे साहित्य की बात मैं नहीं करता, लेकिन हिन्दी साहित्य में जितनी भी श्रेष्ठ, कालजयी कही जाने वाली या प्रसिद्ध साहित्यिक रचनाएं हैं, उनमें से अधिकांश रचनाएं राम और कृष्ण के चरित्र या उनकी गौरव गाथाएं हैं और उन सभी कृतियों में किसी न किसी रूप में असमानता के पोषक विचारों का पोषण या समर्थन किया गया है। ऐसे साहित्य से लोकरंजन की सिद्धि भले ही संभव हो लोकमंगल की सिद्धि कदापि नहीं हो सकती।

इसलिए जहां तक साहित्य के उद्देश्य तथा समाज के लिए उसकी उपयोगिता का सम्बन्ध है कुछ अपवादों को छोड़कर तथाकथित सवर्णों द्वारा लिखा गया समग्र हिन्दी साहित्य इस तरह की कृतियों से सर्वथा शून्य रहा है जिनमें पददलित और उपेक्षित लोगों के सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक शोषण के सार्थक विरोध तथा प्रस्थापित व्यवस्थाओं को खण्डन और मानवीय मूल्यों की स्थापना का प्रयास हो। जब तक स्वयं साहित्यकारों के मन में ऊंच-नीच और जात-पात का भेद बना रहेगा तब तक इस तरह के साहित्य के सृजन की कोई संभावना भी नहीं है। रुग्ण मस्तिष्क से स्वरूप चिंतन की उम्मीद नहीं की जा सकती। अपनी जातीय श्रेष्ठता के दम्भ के साथ जीने वाले व्यक्ति के द्वारा सामाजिक समता और भ्रातृत्व की बात करना कोरी लफ्फाजी के सिवाय और कुछ नहीं है। किसी भी विचार को आगे बढ़ाने के लिए आचरण का बल चाहिए। कोई विचार कितना भी अच्छा क्यों न हो जब तक उसको उसी भावना के साथ जिया नहीं जाएगा। तब तक उसके अच्छा होने की कोई सार्थकता नहीं है। इसलिए सवर्ण साहित्यकारों द्वारा अपने साहित्य में दलितों के प्रति सहानुभूति मूल्यहीन है जब तक कि हाथ में कलम उठाने से पहले अपने मस्तिष्क में भरी ऊंच-नीच, और छूत-अछूत की कीचड़ को निकाल कर उसमें समता और भाई-चारे की स्वच्छ-निर्मल धारा प्रवाहित नहीं करता। लेकिन समता, न्याय और भ्रातृत्व की भावना से पूर्ण साहित्य का सृजन हो भी कैसे सकता है जब रामचन्द्र शुक्ल जैसे अग्रणी साहित्यकार की यह मानसिकता हो

चीथड़े लपेटे चने चाबेंगे चौखट पर
चाकरी करेंगे नहीं चौपट चमार की।

समाज की अगुवाई करने और उसे सही दिशा देने की कर्तव्य भावना से लदे साहित्यकारों का यह चिंतन इस बात की ओर इंगित करता है कि सवर्ण भाई-चारे की बात करेगा, एक साथ मिल-बैठने और खान-पान की बात भी करेगा लेकिन अपने जातीय अहं को कभी नहीं छोड़ेगा। यह प्रवृत्ति कल भी थी, आज भी है। लेकिन प्रश्न फिर वही है यह प्रवृत्ति अभी तक क्यों है? इस प्रवृत्ति का नाश अभी तक क्यों नहीं हो पाया है? क्यों अभी तक ऐसे संस्कारों का निर्माण नहीं हो सका जहां जन्म और जाति नहीं, गुण और कर्म व्यक्ति की श्रेष्ठता और सम्मान के आधार हों। कहना न होगा कि किसी भी संस्कृति निर्माण में साहित्य की महत्वपूर्ण भूमिका होती है और साहित्य पर संस्कृति का प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सकता। मनोविज्ञान भी इस बात को स्वीकार करता है कि व्यक्ति जैसे वातावरण में जीता है, जैसे माहौल में उठता-बैठता, खाता-पीता है, हँसता-रोता है, उस वातावरण का प्रभाव उसकी मानसिकता पर भी पड़ता है। और जब वह व्यक्ति कलम उठाकर लिखने बैठता है तो उसके साहित्य पर भी उसका प्रभाव पड़ता है। स्पष्ट है कि किसी भी व्यक्ति द्वारा लिखा गया साहित्य उसके संस्कारों से प्रभावित रहता है। यहां यह उल्लेखनीय है कि हिन्दी साहित्य में लेखन से लेकर प्रकाशन और वितरण तक सब कुछ सवर्णों के हाथों में था, उनके आधिपत्य में रहा है। इसकी एक खास वजह रही है और वह यह है कि भारत में अध्ययन-अध्यापन का अधिकार सवर्णों को ही सदैव से रहा है। दलितों के लिए शिक्षा के दरवाजे सदियों तक बन्द रहे। इसलिए सवर्णों को जो कुछ अपने हितों के अनुकूल और अच्छा लगा, उसे ही उन्होंने श्रेष्ठ और शुभ कहा, उसी की प्रशंसा की।

साहित्य के इतिहासकारों ने हिन्दी साहित्य की कई प्रवृत्तियां बतायी हैं। इन प्रवृत्तियों को लेकर विद्वानों में मतभेद हो सकता है, यह मेरे विचार का विषय नहीं है। लेकिन एक बात लाजमी तौर पर कही जा सकती है कि एकाध अपवाद को छोड़कर सवर्ण लेखकों द्वारा लिखे गए साहित्य में जो एक प्रवृत्ति आम तौर पर पायी जाती है और वह है वर्ण और जाति-व्यवस्था के पोषण की प्रवृत्ति जो न केवल दलितों के मानवीय अस्तित्व को नकारती है बल्कि उनके उत्थान और विकास की सारी संभावनाओं को भी अवरूद्ध करती है।

यद्यपि इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि जहां लज्जा राम मेहता और किशोरी लाल गोस्वामी प्रभृति साहित्यकारों ने वर्ण और जाति व्यवस्था की जमकर वकालत की है तथा दलितों के शोषण के आधार को पुख्ता करने में कोई कोर-कसर बाकी नहीं छोड़ी है। वहीं कई सवर्ण साहित्यकारों ने दलितों के हक में काफी कुछ लिखा है। किन्तु उनके लेखन की उपयोगिता क्या रही? उनका यह लेखन कितना सार्थक रहा? न्याय और अहिंसा के पक्षधर उस योद्धा को क्या कहिए जो एक

सजातीय और दलित के झगड़े में जब तक उसका सजातीय दलित को पीटता रहे वह दूर खड़ा तमाशा देखता रहे और जब दलित का हाथ उठे तो तुरन्त आगे बढ़कर उसका हाथ पकड़ ले और कहे 'तू ही बस कर भैया! क्यों लड़ाई बढ़ाते हो। मार-पीट में कोई फायदा नहीं है। यह तो पागलपना कर ही रहा है, कम से कम तू तो समझदारी से काम ले।' और क्या कहिए उस दीनबन्धु को जो सजातीय के हाथों किसी निर्दोष कमजोर को पीटते देखकर केवल दूर से खड़ा होकर उस पीटने वाले को हिंसा न करने, मजलूम को न सताने का उपदेश दे, उससे अनुरोध करे कि वह निर्दोष को न मारे, न कि यह करे कि वह निर्बल की रक्षा में आगे आए, ज्यादाती करने वाले की गर्दन पकड़े और उसके गाल पर झापड़ रसीद करे। उसे सबक सिखाए ताकि फिर कभी वह किसी निर्बल को न सताए, अत्याचार न करे। दलितों पर लिखने वाले सर्वर्ण साहित्यकारों की भूमिका भी दलितों के मामले में कुल मिलाकर इससे कुछ भिन्न नहीं रही है। उन्होंने दलितों के उद्धार की बात की, उनके उत्थान और विकास की बात की, लेकिन दलितों पर जुल्म और ज्यादाती करने से बाज न आने वाले अपने ही भाइयों के गाल पर झापड़ वे नहीं लगा सके। झापड़ लगाना तो दूर वे उनकी ओर क्रोध से आंखें तक नहीं तरे सके। और ऐसा वे इसलिए नहीं कर सके क्योंकि वे अपने जातीय संस्कारों से मुक्त नहीं हो पाए। यदि ऐसा नहीं होता तो अन्याय और शोषण के खिलाफ झण्डा उठाने वाले प्रगतिवादी साहित्यकार भी केवल आर्थिक समानता की बात नहीं करते, वे वर्ण और जाति-व्यवस्था के उन्मूलन की भी बात करते, उस पर प्रहार अवश्य करते। दलितों की सारी समस्याओं का मूल उनको अर्थ के अभाव में दिखाई दिया है जैसे फिल्मकारों और पत्रकारों की दलित स्त्रियों के यौन शोषण में। केवल यहीं तक देख पाना सत्य-दृष्टि नहीं है ये भी दलितों की बहुत बड़ी समस्याएं हैं, किन्तु दलितों की असली समस्या है वर्ण और जाति की समस्या, समाज में उनके सम्मान और स्वीकृति की समस्या जिसके चलते आज भी वे जन्म लेते ही तथाकथित उच्च वर्णों की घृणा, उपेक्षा और तिरस्कार के पात्र बनते हैं। यह उपेक्षा-बोध उनमें हीनता का भाव पैदा करता है और यह हीनता भाव उन्हें जीवन भर उबरने नहीं देता। हिंसा और आतंक के साए में जीने वाला व्यक्ति कभी स्वच्छन्द जीवन जी नहीं सकता। वह सदैव सहमा-सहमा और बुझा-बुझा रहेगा। और इस सहमेपन के कारण उसका स्वाभाविक विकास नहीं हो सकता है। तब इस तरह के असहज और प्रतिकूल वातावरण में दलितों का स्वाभाविक उत्थान और विकास कैसे हो सकता है?

समाज में एक सहज, समान और भ्रातृत्वपूर्ण वातावरण का निर्माण कौन करेगा? इसकी जिम्मेदारी यदि अन्य एजेंसियों की है तो साहित्य की भी है। जब सहज और सामान्य वातावरण मिलेगा तो दलित अपने हीनता भाव से मुक्त हो सकेगा।

उसमें चेतना का संचार होगा और वह अपने हित और उत्थान के प्रति भी जागरूक होगा। इसमें संदेह नहीं कि दलितों में सामाजिक चेतना का संचार हो जाने पर आर्थिक और राजनीतिक क्षेत्रों में बहुत बड़ा बदलाव आ सकता है। किन्तु यह भी मानना पड़ेगा कि यह बदलाव देश और समाज के दूरगामी हितों की दृष्टि से बहुत शुभ होगा। इसलिए इस बदलाव को लाने में साहित्य को अपनी भूमिका का निर्वाह करना होगा अन्यथा उसकी सार्थकता पर प्रश्नचिह्न लगा रहेगा।

कुसुम मेघवाल
राजस्थान में दलितों की सामाजिक स्थिति

राजस्थान का नाम लेते ही लोग रेगिस्तान को याद करने लगते हैं। जिन्होंने राजस्थान नहीं देखा है वे इसे सत्य मानकर चलते हैं किन्तु यह पूर्णतः सत्य नहीं है। हम पूरे राजस्थान को रेगिस्तान का पर्याय नहीं बना सकते। हां, लगभग आधा राजस्थान रेगिस्तान में गिना जा सकता है किन्तु आधा राजस्थान तो पहाड़ियों, घाटियों एवं झीलों से भरा पड़ा है। पर्यटन की दृष्टि से भी राजस्थान का अपना महत्व है। रेगिस्तान में गोरबन्द बांधे घुंघरूओं की मधुर ध्वनि के साथ ऊंटों की सवारी भुलाने पर भी नहीं भुलाई जा सकती। इसके विभिन्न क्षेत्रों की छटा ही निराली है इसलिए इसे रंगीला राजस्थान भी कह कर पुकारा जाता है। यहां की मिट्टी में लोक कला और लोक जीवन का रंग, वैभवशाली साम्राज्य का रंग, लोक साहित्य का रंग, मेहनतकशों का रंग एवं सामन्ती वैभव के रंग मिलते हैं।

राजस्थान के इतने रंगों में से हमारा विषय केवल मेहनतकशों के रंग पर आधारित है। ये मेहनतकश वे ही लोग हैं जो समाज रूपी सीढ़ी के सबसे नीचे वाले डण्डे पर खड़े हैं। सदियों पूर्व भी वे इसी डण्डे पर खड़े थे और आज आजाद भारत में भी उसी डण्डे पर खड़े हैं। इन्हीं मेहनतकश लोगों को हमारे संविधान में अनुसूचित जाति, जनजाति एवं पिछड़ा वर्ग के नाम से पुकारा गया है। गांधी जी ने इन्हें 'हरिजन' नाम दिया है, किन्तु उन्हें 'हरिजन' शब्द रास नहीं आया और अपने को दलित कहलाना अधिक पसन्द करते हैं।

कमोवेश पूरे देश में दलितों की एक सामाजिक स्थिति है। देश के किसी भी कोने में दलितों को आज भी उच्च स्थिति प्राप्त नहीं हुई है चाहे वे कितने ही बदल गए हों, योग्य एवं होनहार निकल गए हैं। उनकी गिनती दलितों के रूप में ही होती है। उन पर जन्मजात जो छाप लगी है। यों कहा जा सकता है कि कुछ राज्यों में दलितों की सामाजिक स्थिति में सुधार अवश्य हुआ है। आज वे उतना दीन-हीन जीवन-यापन नहीं कर रहे हैं जितना पूर्व में कर रहे थे। शिक्षा और चेतना के कारण उनकी सामाजिक स्थिति में बदलाव आ गया है! ऐसे राज्यों में महाराष्ट्र का स्थान

सर्वोपरि है। इसका कारण महाराष्ट्र बाबा साहब डॉ. अम्बेडकर की जन्मस्थली एवं कर्मस्थली दोनों ही होना है। बाबा साहब ने न केवल महाराष्ट्र के लिए वरन् पूरे देश के दलितों के लिए एक 'अस्मिता' और एक 'मिशन' दिया था। जिसे महाराष्ट्रवासियों ने अपना लिया। उसके प्रचार-प्रसार के लिए पूरे जोर-शोर से तन-मन-धन के साथ उन्होंने कार्य किया। आन्दोलन किये, मोर्चे निकाले। फलस्वरूप वहां दलितों में चेतना एवं जागृति की जो लहर फैली उससे उनकी सामाजिक स्थिति में बदलाव आया। महिलाओं की स्थिति में सुधार हुआ। अन्य राज्यों में भी यह लहर मंथर गति में फैलती रही किन्तु राजस्थान में बाबा साहब के क्रान्तिकारी विचार कछुआ चाल से पहुंचे और आज भी यदि यह कहा जाय कि राजस्थान के सभी दलित बाबा साहब के नाम से, काम से परिचित नहीं हैं तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। अनपढ़ और ग्रामीणों की बात छोड़ दें तो भी राजस्थान का प्रत्येक शिक्षित दलित भी बाबा साहब को नहीं जानता। इससे बड़ी बिडम्बना और क्या होगी?

सामाजिक स्थिति बदलती है शिक्षा से, अपने कार्यों से, चेतना से, आन्दोलनों से, अधिकारों से। एक ऐसी ताकत से, ऐसे संगठनों से जो मजबूर कर देते हैं सामाजिक बदलाव लाने को। राजस्थान में अभी वह स्थिति नहीं है। महाराष्ट्र में बाबा साहब के पूर्व भी कई समाज सुधारक हुए हैं। वहां समाज सुधारकों की पूरी एक शृंखला है। उनमें राजा राममोहन राय, महात्मा ज्योतिबा फुले, सावित्री बाई फुले के नाम उल्लेखनीय हैं जिन्होंने समाज में एक चेतना जगाई और लोगों को अपनी अस्मिता के लिए संघर्ष करना सिखाया।

राजस्थान में ऐसा कोई समाज सुधारक नहीं हुआ जो एक कड़ी की तरह बाबा साहब से जुड़ता और उनके कार्यों को राजस्थान में प्रारंभ करने का प्रयास करता। उनके आन्दोलनों को इधर चलाता चेतना लाता। यही कारण है कि राजस्थान में बाबा साहब के विचारों का आगमन बहुत बाद में धीरे-धीरे हुआ। इसलिए यह कहा जा सकता है कि राजस्थान में दलितों की सामाजिक स्थिति में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ।

राजस्थान में वर्षों तक सामन्तवादी व्यवस्था कायम रही जिसमें 'घणी खम्भा' संस्कृति का प्रादुर्भाव हुआ जो आज भी बरकरार है। वह राजस्थानवासियों के खून में इस प्रकार रच-बस गई है कि उसे निकालना बहुत कठिन है। किसी को अपनी अस्मिता के लिए लड़ना सिखाओ, स्वाभिमान से जीना सिखाओ तो वह बड़ी मुश्किल से तैयार हो पाता है। जो तैयार होते हैं वे थोड़े ही दिनों में फिर फिसल जाते हैं। यही कारण है कि राजस्थान में दलित उत्थान का काम करना बड़ा ही दुश्कर है।

राजस्थान की सामन्ती व्यवस्था के कारण ही यहां का दलित वर्ग प्रारंभ से ही घोर उत्पीड़न और दमन का शिकार रहा। आज आजादी के 65 वर्षों के बाद

भी वह अपने मानवीय अधिकारों से वंचित है। सामन्ती शासन में जितने भी किले, महल, तालाब, बाबड़ियां बने, सभी दलितों के बेगार से बने हैं। बेगारी प्रथा का अर्थ होता है निम्न वर्ग के श्रमजीवी लोगों को बिना मजदूरी दिए काम लेना। कोई शासक दयावान होता तो वह उसे थोड़ा बहुत खाना भी दे देता अन्यथा भूखे ही रगड़ता रहता। इस प्रकार उनका न केवल आर्थिक शोषण होता था वरन् उनकी स्वतंत्रता का हनन भी होता था। ठाकुर और राजा के सिपाही जब भी चाहते इन्हें बेगार में पकड़ लाते। ये लोग मना भी नहीं कर सकते थे। मना करने पर कोड़े पड़ते थे।

सामन्ती शासन में दलितों में मात्र बेगार ही लिया जाता हो, ऐसी बात नहीं थी। उनकी जीवित बलि दे देना भी साधारण बात थी। महल, किले, तालाबों की माल आदि में किसी भी दलित को पकड़ कर जिन्दा नींव में चुन दिया जाता था। उस समय न उसकी बात सुनी जाती थी न उसकी पत्नी, बच्चे व मां-बाप की। ऐसे बलि प्रकरणों में जोधपुर के किले में दी गई जोगचन्द झाम्बी और एशिया की सबसे बड़ी झील जयसमन्द, उदयपुर की पाल में दी गई 'गोगा गमेती' की बलि ज्यादा चर्चित हैं।

इतना ही नहीं मनुस्मृति की अन्यायपरक व्यवस्था के अनुसार दलित वर्ग पर और भी अनेक निर्योग्यताएं लादी गई थीं जो आज भी कमोबेश बेकरार हैं। उन्हें किसी भी रूप में समान अवसर उपलब्ध नहीं थे। ये न सवर्णों जैसे कपड़े पहन सकते थे न वैसे आभूषण। न उनकी तरह मकान बना सकते थे न जूते पहन कर चल सकते थे। सार्वजनिक कुओं से पानी भरना और सार्वजनिक मन्दिरों में प्रवेश करना उनके लिये निषेध था। मन्दिर की सीढ़ियों पर, जहां अन्य लोग जूते खोलते थे, वहां बैठना भी एक सपना था।

दलित महिलाओं की स्थिति तो और भी दयनीय थी। उन पर केवल सवर्ण ही अत्याचार नहीं करते थे स्वयं दलित पुरुष भी अत्याचार करते थे। लाचार दलित जो स्वयं पीड़ित शोषित था अपनी बहू-बेटी की लाज कैसे बचाता। पति स्वयं अपनी पत्नी को, बाप अपनी बेटी को, पर-पुरुष ठाकुर के पास जाने को मजबूर करता था। मना करने या विरोध करने पर उनकी बुरी तरह से पिटाई की जाती थी। उन्हें जबरदस्ती उठा कर उनके यहां पहुंचा आते थे। ऐसा नहीं करने पर उनकी रोजी-रोटी, मजदूरी पर खतरा मंडराने लग जाता।

दलितों की सुन्दर महिलाओं पर तथाकथित सवर्णों की हमेशा गिद्ध दृष्टि रहती और जब भी उनका मन चाहता वे उन पर झपट पड़ते थे। दलित महिलाओं का शील हमेशा खतरे में ही रहता था। ठाकुर एवं राजा जब भी चाहते दलित महिलाओं को अपने महलों में पकड़ मंगवाते थे और उन्हें रखैल या दासी बना कर रख लेते। आचार्य

चतुरसेन का उपन्यास 'गोली' इस प्रकार की व्यथा का सटीक उदाहरण है जिसमें राजस्थान के अन्तःपुरों में घुट-घुट कर जीने वाले उन दास-दासियों की व्यथा का साकार चित्रण हुआ है। इन दास-दासियों को भेड़-बकरियों की तरह बेचा एवं खरीदा जाता था। उपन्यासकार ने नायिका चम्पा के माध्यम से दलित-शोषित जनों के नारकीय तथा परतंत्र जीवन का मार्मिक चित्रण किया है।

इसी प्रकार रांगेय राघव ने अपने उपन्यास 'कब तक पुकारूं' में एक दलित घुमक्कड़ जाति करनटों की सामाजिक स्थिति का पूरी संवेदना के साथ चित्रण किया है। सामन्तशाही में पिसते दलितों की सामाजिक स्थिति का चित्रण यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र' ने अपने उपन्यासों 'पत्थर के आंसू', 'ढोलन कुंजकली' एवं 'हजार घोड़ों का सवार' में अच्छे ढंग से किया है। इन सभी का विस्तृत विवरण मैंने अपने शोध ग्रन्थ 'हिन्दी उपन्यासों में दलित वर्ग' में किया है। ऐसे और भी अनेकों उपन्यास हैं जिनमें दलितों की सामाजिक स्थिति का चित्रण हुआ है किन्तु वह हमारे विषय से परे हैं।

यह बड़े खेद और आश्चर्य का विषय है कि आजादी के 65 वर्षों के बाद भी राजस्थान के दलितों की सामाजिक स्थिति में कोई विशेष अन्तर नहीं आया है। वहां आज भी दलित दूल्हे को घोड़े पर बैठा कर बारात नहीं निकाल सकते। जो कोई हिम्मत करता है उनके साथ तथाकथित सवर्ण न केवल मारपीट करते हैं वरन् कभी-कभी तो मौत के घाट भी उतार देते हैं। दलित माहिलाएं आज भी गांव का चौराहा पार करती हैं तो चप्पलें उतारकर हाथ में लेती हैं। दलित लोग सवर्णों व ठाकुरों के सामने खाट पर नहीं बैठ सकते। आज भी दलित लोग ठाकुरों के निवास रावले में जाते हैं तो आधे झुक कर, हाथ जोड़ कर घणी खम्भा करते हुए दूर खड़े रहते हैं।

राजस्थान के विश्व प्रसिद्ध नाथद्वारा मन्दिर में आज भी दलितों का प्रवेश वर्जित है। राजस्थान के गांवों में बने तथाकथित सवर्णों के मन्दिर में आज भी दलित प्रवेश निषेध है। वहां दलितों ने भी अपने अलग मन्दिर बना लिए हैं।

राजस्थान के शहरों को छोड़ दें तो गांवों में आज भी दलितों की बस्तियां गांव के दूर कोने पर बसी होती हैं। उनके पानी भरने के अपने अलग कुएं हैं। वे सवर्णों के कुएं से पानी नहीं भर सकते। भले-भटके कोई बाहरी दलित व्यक्ति उनके कुएं पर पानी पीने चला भी जाता है तो उसकी पिटाई हो जाती है।

गांवों के विद्यालयों में आज भी छुआ-छूत, ऊंच-नीच बरकरार है। दलित बच्चों की बात तो दूर, दलित अध्यापकों को भी एक ही मटके से पानी नहीं देते। वे या तो प्यासे मरें या अपने घर से अपने लिए अलग पानी लाएं या विद्यालय में अलग मटके की व्यवस्था करें। ऐसा नहीं करने पर उनकी पिटाई भी हो जाती है। दलित अध्यापक

मार के डर से, ट्रान्सफर के डर से, इन घटनाओं की रिपोर्ट अत्याचार निवारण अधिनियम 1986 के तहत नहीं करवाते हैं और जुलम सहते रहते हैं। ऐसी स्थिति में सामाजिक बदलाव की कल्पना भी नहीं की जा सकती। जब तक दलित वर्ग संघर्ष नहीं करेगा बाबा साहब के बताए मार्ग पर नहीं चलेगा तब तक सामाजिक बदलाव नहीं आ सकता।

राजस्थान में दलित वर्ग की जमीनों पर प्रभावशाली लीगों का कब्जा रहता है उनकी जमीनों पर खेती करते हैं, मकान बनवा लेते हैं। कोई-कोई हिम्मत करके इस अन्याय के विरुद्ध आवाज उठाता है तो प्रभावशाली लोग न केवल उनका गांव में रहना हराम कर देते हैं वरन् उन्हें जान से भी मार देते हैं और पुलिस एवं प्रशासन को पैसा खिलाकर अपने हक में फैसला करा कर बने रहते हैं।

गांवों में दलितों की हालत यह है कि होटल वाले उन्हें अपने कपों में चाय नहीं पिलाते। उनके लिए मिट्टी के सकोरे अलग से रखते हैं। दलित उनमें चाय पीकर फेंक देते हैं। कोई होटल वाला यदि अपने कपों में चाय दे देता है तो दलितों को अपने कप स्वयं धोकर रखने पड़ते हैं। यह सब खुले आम होता है। संविधान में अस्पृश्यता को अपराध माना गया है, किन्तु उसकी पालना कहां होती है। पालन कराने वाला कोई नहीं है। नाई भी दलितों के बाल नहीं काटते हैं।

राजस्थान के दलितों के साथ छुआछूत और भेदभाव का वातावरण न केवल गांव में वरन् शहरों में भी मौजूद है। शहरों में दलित वर्ग के लोगों को किराए का मकान मिलना बहुत ही मुश्किल होता है। जाति छुपा कर मकान लो तो मिल जाएगा अन्यथा नहीं। कोई-कोई दे भी देते हैं तो उनके समाज से घबराते रहते हैं कि कोई जान न जाए। मकान मालिक जाति पूछते हैं और जाति बता देने पर नाक-भौं सिंकोड़ कर मना कर देते हैं। जाति छुपा कर रहने वालों की कभी पोल खुल जाती है तो उसी समय खड़े-खड़े मकान खाली करवा देते हैं।

इन सभी अत्याचारों, अन्याय का मुख्य कारण है शिक्षा का अभाव, चेतना का अभाव, चिन्तन दृष्टि का अभाव, साहस का अभाव, कानूनों की अनभिज्ञता। जो लोग पढ़-लिख कर उच्च पदों पर पहुंच गए हैं उनकी स्थिति भी कोई बहुत अच्छी नहीं। सामाजिक भेदभाव के कारण वे खुलकर सामने आने से डरते हैं, अपनी पहचान छुपा कर रखते हैं। इस सम्बन्ध में यहां के दलित नेता भी कुछ नहीं कर पाए हैं। इससे बड़ी आश्चर्य की और क्या बात होगी कि दलित उम्मीदवार जब ठाकुरों के यहां वोट मांगने जाते हैं तो वे उन्हें भी अपनी बराबरी में नहीं बिठाते। उनकी शर्त होती है कि वे हमारे सामने खाट पर नहीं बैठेंगे। वोटों के लालच में उनकी शर्त मान ली जाती है और समानता के अधिकार का गला घोट दिया जाता है।

दलित महिलाओं की तो आज भी यह स्थिति है कि चुनाव सम्बन्धी कोई बैठक

हो या पंचों की बैठक वे घूंघट काढ़े पुरुषों से कई गज दूर धूल में बैठती है बाकी सभी जाजम पर या चबूतरों पर बैठते हैं। वे तो आज भी पूरी तरह गुलाम हैं। वे नहीं जानतीं कि आजादी किस चिड़िया का नाम है। घर के कामों में मशीन की तरह खटना और बच्चे पैदा करने से अधिक उनका कोई सामाजिक महत्व नहीं है।

अतः निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि दलित की सामाजिक स्थिति में सुधार के लिए सबसे बड़ी आवश्यकता शिक्षा की है। शिक्षा का द्वार खुलने पर अन्य समस्याएं स्वयमेव हल हो जाएंगी। सामाजिक स्थिति में सुधार होगा।

विमल थोरात
दलित मुक्ति आन्दोलन की संवेदनात्मक
अभिव्यक्ति मराठी दलित कविता

दलित संवेदना से संपृक्त दलित चेतना की रचनात्मक अभिव्यक्ति ने मराठी दलित साहित्य बल्कि सम्पूर्ण भारतीय साहित्य पर प्रश्न चिन्ह लगाया है। दलित जीवन की तमाम वेदना, वंचना, उत्पीड़न, अपमान, पीड़ा की इस अनुभूति से प्रसूत अभिव्यक्ति ने हिन्दू धर्म से उपजी मानसिकता को झकझोर कर रख दिया। उसने सवर्ण समाज की व्यवस्था, संस्कृति, इतिहास से सवाल करना शुरू किया। क्यों एक मानव को मानव से हीन बनाया? क्यों उसे अस्पृश्य बनाकर अपने अहातों से, गांवों, कस्बों से दूर एक कोने में रखे कूड़े-करकट के ढेर पर अकेला छोड़ दिया? उसके मूलभूत अधिकारों को बेरहमी से छीनकर भूखा-प्यासा दया की भीख पर निर्भर बनाकर छोड़ दिया? उसका क्या कुसूर था कि मानवता को श्रेणी से अपने आपको गिराकर सवर्णों, ब्राह्मणों ने उनका सदियों तक शोषण किया। गुलाम की तरह रखकर इससे श्रम करवाया पर बदले में उसे घृणा, अपमान से भरे जीवन को जीने के लिए मजबूर किया।

लेकिन डॉ. बाबा साहेब अम्बेदकर ने इस अपमान-पीड़ित दलित समाज को सबसे प्रथम मुक्ति का मार्ग बताया। उसमें अपने अस्तित्व के प्रति अहसास जगाया। इस भारतभूमि के शक्तिशाली अंश के रूप में उसकी पहचान करायी। उनके द्वारा शुरू किए गए दलित मुक्ति आन्दोलन ने सदियों से हीन दशा में रहने के लिए बाध्य दलित समाज में चेतना जागृत हुई। इस जागृत समाज में शिक्षा का प्रसार हुआ। जिससे प्राप्त नई दृष्टि के दलित युवकों ने अपने जीवन की इस स्थिति के लिए कारणभूत तत्वों की गंभीरता से तलाश करनी शुरू की। इसी नए अहसास, अस्तित्व की नई पहचान ने दलित साहित्य को जन्म दिया। डॉ. बाबा साहेब अम्बेदकर के विचार और कार्य ने दलितों को अन्यायपूर्ण संस्कृति, परम्परा, समाज व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह करने की शक्ति प्रदान की। पुरातनवादी संस्कृति, सम्पदा, समाज व्यवस्था को नकार

कर दलित साहित्य मानवतावादी, समतावादी, विज्ञाननिष्ठ दृष्टि से नए समाज को निर्मित करना चाहता है। निषेध, विरोध, नए मानव मूल्यों की निर्मिति और विज्ञाननिष्ठ दृष्टि दलित रचनाकारों ने प्राणभूत तत्वों के रूप में अपनाए हैं। दलित साहित्य दलित समाज की वास्तविक जीवन की अभिव्यक्ति है। दलित रचनाकार दलित समाज के सरोकारों से बँधा हुआ है।

मराठी में दलित साहित्य आंदोलन का उद्भव एवं विकास

साहित्य के क्षेत्र में नई चेतना का जन्म सामाजिक, सांस्कृतिक अभिसरण के फलस्वरूप होता है। हर बार यही देखा गया है कि समाज में होने वाले परिवर्तनों का सही रूप साहित्य में प्रकट होता है। 'दलित साहित्य' मराठी साहित्य में सामाजिक परिवर्तन की मांग को लेकर प्रस्तुत हुआ है। मनुष्य की एक नई पहचान कराने वाले साहित्य के रूप में दलित साहित्य उभरा है। दलित साहित्य के बारे में कमलेश्वर ने कहा था

“जिस देश की आधी मानवता अपमान से पीड़ित हो, उस देश में स्वाभिमान से यह कह सकने वाला साहित्य कि हम अपमान से पीड़ित मानवता के लिए अपने को समर्पित करते हैं, मराठी के दलित साहित्य के अलावा दूसरा नहीं है।”*

भारतीय समाज के एक बहुत बड़े हिस्से को समाज ने हमेशा दुत्कारा है अपमानित किया और मनुष्य होकर भी उसके साथ पशु से भी बदतर व्यवहार किया है। यह अहसास वेदनामय है और यह वेदना एक व्यक्ति की नहीं पूरे दलित वर्ग की वेदना है। इस वेदना की अभिव्यक्ति जब भी होगी वह आक्रोश के रूप में होगी। इस दृष्टि से इसे महत्वपूर्ण सामाजिक घटना मानना चाहिए। दलित साहित्य की निर्मिति सामाजिक परिवर्तन का ही परिणाम है और सामाजिक परिवर्तन की दिशा में उपयुक्त संवेदनात्मक मन की अभिव्यक्ति भी है।

दलित साहित्य का उद्भव मराठी साहित्य में एक साहित्यिक सामाजिक विद्रोह के रूप में हुआ है जिसके माध्यम से दलित, शोषित समाज का विद्रोह मुखरित हुआ है। जिसे अछूत कहकर सदियों तक मनुष्य जीवन की सभी आवश्यकताओं और सुविधाओं से वंचित रखा गया और जिसे केवल दुःख, वेदना, गुलामी, अपमान, आंसुओं से भरी जिंदगी बिताने के लिए विवश किया गया है। हिन्दू धर्म की वर्ण व्यवस्था ने जातियों के कटघरों से निर्मित इस समाज व्यवस्था में उसे वह स्थान दिया जो गांवों, नगरों के आहातों से दूर था, और जहां केवल अन्धकार ही अंधकार था।

*कमलेश्वर अध्यक्षीय भाषण तीसरा दलित साहित्य सम्मेलन, जनवरी 1969, औरंगाबाद, स्मरणिका, पृ. 1

उस अन्धकारमय जीवन से निकाल कर उनके जीवन में रोशनी लाने का कार्य डॉ. अम्बेडकर ने किया।

डॉ. अम्बेडकर ने दलितों की सोयी हुई आत्मा को जगाया। और वह मनुष्य अपने सामर्थ्य के साथ और साहित्य के साथ इस आन्दोलन में शामिल हुआ।

दलित साहित्य में व्यक्त होने वाला अनुभव मौलिक अनुभव है। इस अनुभव की मुख्य प्रेरणा है स्वतंत्रता। स्वतंत्रता के महत्व को दलितों ने तब जाना जब उन्होंने हिन्दू धर्म का त्याग कर बुद्ध धर्म को स्वीकार किया। डॉ. अम्बेडकर के धर्मान्तर के बाद के इन उद्गारों से यह पता चलता है कि दलित उस समय कैसा अनुभव कर रहे थे।

“विषमता और जुल्मों पर आधारित पुराणपंथी धर्म का त्याग करने से मुझे ऐसा प्रतीत हो रहा है जैसे मैंने नरकतुल्य जीवन से छुटकारा पा लिया है और मेरा पुनर्जन्म हुआ है।”*

इसी पुनर्जन्म अथवा स्वतंत्रता के अहसास की अभिव्यक्ति दलित साहित्य के अंतर्गत होती है। आज हम देखते हैं कि दलित साहित्य आंदोलन द्वारा विद्रोह की भावना एवं स्वतंत्र चेतना का विस्फोट साहित्यिक, राजनीतिक और वैचारिक स्तर पर हुआ है। यही कारण है कि महाराष्ट्र की दलित युवक पीढ़ी की तरफ तथा उनकी प्रेरक विचारधारा, राजनीतिक आन्दोलन और साहित्यिक अभिव्यक्ति की ओर राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर सभी का ध्यान आकर्षित हुआ है। ‘दलित साहित्य’ उस विद्रोह का उन्मेष है जो किसी विशिष्ट जाति या व्यक्ति के विरुद्ध नहीं बल्कि ‘स्व’ की खोज में निकले हुए एक पूरे समाज का पूर्व परंपराओं से विद्रोह एवं अपने अस्तित्व की स्थापना का प्रयास है।

यह विद्रोह हिन्दू धर्म पर आधारित परंपराओं, रूढ़ियों और विचारों से है और उस समाज के विरुद्ध जिसने उन्हें पददलित, शूद्र और अस्पृश्य नाम देकर अन्याय, अत्याचारों के द्वारा अपने मन में छिपी बर्बरता का पूरा-पूरा परिचय दिया। यह कहना उचित होगा कि ‘विद्रोह ही दलित साहित्य का मूलधर्म और उसकी विशिष्टता है।’ दलित साहित्य का ‘केन्द्र स्थान’ मनुष्य है। धर्म की साजिश के द्वारा छिनी हुई प्रतिष्ठा और सम्मान को प्राप्त करने के लिए साहित्य प्रतिबद्ध है। यह उसे सम्यक् क्रांति की तरफ ले जाना चाहता है। साहित्य ऐसा माध्यम है जो समाज की वास्तविकता को रचना के माध्यम से समाज के समक्ष प्रस्तुत करता है। ‘ज्यांपाल सार्त्र’ ने इस विषय में कहा है ‘लेखन केवल लेखन नहीं है वह कृति है, दुष्ट प्रवृत्तियों के विरुद्ध मनुष्य

*डॉ. बाबा साहेब अम्बेडकर-नागपुर में हुए ऐतिहासिक धर्मान्तर के बाद का भाषण (पुस्तिका)

का जो सतत संघर्ष चल रहा है, उस संघर्ष में लेखन को एक हथियार के समान उपयोग में लाने की जरूरत को लेखक को समझना चाहिए।' (ज्यांपाल सार्त्र, व्हाट इज लिटरेचर पृ. 233) लेखक के महत्व को दलित लेखक अच्छी तरह जान चुके हैं और इस विषम समाज व्यवस्था के खिलाफ ये इस हथियार का सही अर्थों में उपयोग कर रहे हैं।

दलित चेतना की पूर्व परंपरा और मराठी दलित कविता

दलित साहित्य का उद्भव कुछ लोग बुद्ध काल में खोजते हैं, कुछ संतवाङ्मय में (मध्यकालीन भक्ति साहित्य में) तो कुछ क्रांति वीर महात्मा फुले के विचार और साहित्य में। इस बात को नजरअन्दाज नहीं किया जा सकता कि इन सभी ने विषम समाज व्यवस्था का विरोध किया है, दलितों पर होने वाले अन्याय अत्याचारों को अपनी लेखनी से वाणी दी है, 'बहुजन हिताय-बहुजन सुखाय' का संदेश भगवान बुद्ध और महात्मा फुले के विचारों से हम पाते हैं। परन्तु दलित साहित्य का प्रेरणास्रोत डॉ. बाबा साहेब अम्बेडकर के विचार और उनकी जीवन दृष्टि में है और दलित मुक्ति के उद्देश्य से शुरू किए गए मुक्ति आन्दोलन में है। उनकी इस विचारधारा और जीवन दृष्टि के पीछे भगवान बुद्ध और महात्मा फुले के विचार हैं जिसे उन्होंने विरासत के रूप में पाया है। दलित साहित्य का उद्गम जानने के लिए मराठी साहित्य की सांस्कृतिक, सामाजिक और साहित्यिक पृष्ठभूमि को देखना आवश्यक है।

महाराष्ट्र में भक्ति आंदोलन की शुरुआत 13वीं सदी में होती है। इस काल में दो भिन्न संप्रदायों का प्रारंभ होता है, जिसमें एक है 'महानुभाव संप्रदाय और दूसरा चारकरी संप्रदाय'। इन दोनों में काफी अंतर्विरोध है। एक संप्रदाय के लोग दूसरे संप्रदाय के लोगों की कमजोरियों को लेकर व्यंग्य करते रहते थे। महानुभाव सम्प्रदाय द्वारा निर्मित साहित्य परम्परा अल्पायु रही। इस संप्रदाय ने हिंदू धर्माश्रित चातुर्वर्ण्य समाज व्यवस्था का विरोध किया। हिन्दू धर्म की रूढ़ियों, रीतियों, ढोंग और अंधविश्वास, विधि-निषेध आदि पर प्रहार किया। समता का पुरस्कार और विषमता का विरोध महानुभाव पंथ के आद्याचार्य चक्रधर स्वामी और उनके गुरु गोविन्द प्रभु दोनों ने ही किया। चक्रधर स्वामी 'लीला चरित्र' में अस्पृश्यता का विरोध करते हुए कहते हैं 'कोई ब्राह्मण को वैश्य है नेणजे (लीला चरित्र, पृ. 248) और आगे कहते हैं

उत्तम म्हणजे ब्राह्मण। आन अधम म्हणजे मातंग ऐसे म्हणे
परि तोही मनुष्य देही आन निष्पत्तिकारकची असे।
परि वृथा कल्पना करो

(लीला चरित्र, विचार बंध, पृ. 181)

परन्तु कर्मकांड और वृथा ढोंग पर आधारित हिन्दू धर्म का विरोध करने वाला 'महानुभाव पंथ' भी लोकप्रिय नहीं बन सका। इसी काल में चारकरी पंथ का उदय हुआ जिनका बल शुद्ध आचरण, निर्मल अंतःकरण और निष्ठायुक्त भक्ति इन तीन तत्वों पर था। इस पंथ के संतों में सभी जातियों के लोग हैं जिनमें पददलित समाज के संत भी अपनी भक्ति और भक्ति रचनाओं के कारण महत्वपूर्ण स्थान पा चुके हैं। संत गोरा कुम्हार, सेना नाई, सावता माली जनाबाई (दासी), संत चोखामेला (महार-अछूत) आदि प्रमुख हैं। चातुर्वर्ण्य समाज व्यवस्था के कारण इन संतों को भगवद् भक्ति का आनंद हमेशा मन्दिर के बाहर बैठकर और मन्दिर के कलश का दर्शन करके ही लेना पड़ा। अस्पृश्य होने के कारण जो यातनाएं और अवहेलना इन्हें मन्दिर में भी सहनी पड़तीं उसके खिलाफ 'संत चोखामेला' विदीर्ण हृदय से अपनी वेदना व्यक्त करते हैं

हीन याती माझी देवा। कैसी घड़ेल तुझी सेवा।
मज दूर-दूज हो म्हणती। तुज भेटु कवण्या रीति।
माझा लागताची कर सिंतोड़ा घेताती करार।
माइया गोविन गोपाला करुणा भाकी चोखामेला।

(श्री स. भा. द्वारा सम्पादित 'चोखामेला महाराज की अभंगगाथा से)

अनु. हे ईश्वर तूने जाति को हीन ठहराया है तब तेरी सेवा में कैसे करूं? मुझे सब दूर-दूर रहने को कहते हैं। ऐसे में मैं तुझे कैसे मिलूंगा। मेरा स्पर्श होते ही सब पुनः स्नान करते हैं। हे मेरे गोविन्द, गोपाल, तेरी दया की मैं भीख मांगता हूं।

इसमें अपने अस्पृश्य होने की वेदना के साथ-साथ जन व्यवहार का निर्देश भी है और साथ-साथ ईश्वर के दर्शन की लालसा भी। इन अंत्यज सन्तों ने अस्पृश्यता का विरोध अपने भक्ति काव्यों द्वारा किया है परन्तु यह विरोध एक सीमित दायरे के अन्तर्गत ही रहा। हीन जाति में जन्म लेने का कारण, वे पूर्व-जन्म के कर्मों को समझते थे। चातुर्वर्ण्य व्यवस्था को दोष न देकर वे अपने आपको दोषी ठहराते थे

शुद्ध चोखामेला। करी नामाचा सोहला।
याती हीन भी महार। पूर्वी निलाचा अवतार।
कृष्ण निन्दा घडली होती। म्हणोनी महार जन्मप्राप्ति।
चोखा म्हणें विटाल। आम्हा पूर्वाचे हे फल। (उपरोक्त)

अनु. शुद्ध चोखामेला। करे नाम घोष याती हीन में महार, पूर्वजन्म में था निल का अवतार कृष्ण निन्दा के कारण महार बन कर जन्म लिया। चोखा कहे बहिष्कार हमें पूर्वजन्म का फल।

लेकिन साथ ही चोखामेला ने अपने मन का दुख, अस्पृश्य होने की वेदना व्यक्त करने वाले बहुत से अभंग रचे हैं। चोखामेला का पुत्र 'कर्ममेला' भी वही प्रश्न

भगवान से पूछता है

आमुची केली हीन जाति। तुज का न कले श्रीपती।
जन्म गेला उष्टे खाता। लाज न ये तुइया चित्ता।
आमचे घरी भात दही। खाबोनी कैसा म्हणसी नाहीं।
म्हणे चोखियाचा कर्ममला। कास या जन्म दिला मला।

अनु. हमारी की हीन जाति। तूं क्यों न समझता श्रीपती जन्म गवायां जूठन खाते। क्यों लाज तुम्हें नहीं आती। हमारे घर दही भात खाकर कहते हो नहीं, कर्ममला कहे चोखा से क्यों मुझे जन्म दिया।

कर्ममला के स्वर में विद्रोह दृष्टिगत होता है, जबकि 'चोखामेला' के स्वर में केवल 'वेदना' ही प्रमुख थी। इन अभंगों में दलितों की वेदना का आदि रूप प्रकट होता है। इस पर मालचन्द्र फड़के ने जो टिप्पणी की है उसका हिन्दी अनुवाद इस प्रकार है

'दलितों के साहित्य में युग-युग की चिर वेदना व्यक्त होती है जिसका आदि रूप संत चोखोबा के अभंगों में हमें देखने को मिलता है। चोखोबा की यह वेदना व्यक्तिगत नहीं थी, वह उसके समाज की वेदना थी जिसे अधिक तीव्र और उत्कृष्ट रूप में उन्होंने व्यक्त किया है। उनके शब्द में प्रकट होने वाला दुःख अंतःकरण को विदीर्ण कर देता है।

भक्ति साहित्य द्वारा 13वीं सदी में संतों (अस्पृश्य समाज के) ने अस्पृश्यता के विरोध में आवाज उठाने का प्रयास किया था। परन्तु यह विद्रोही स्वर आध्यात्मिक और पारमार्थिक भक्ति काव्य के रूप में विलीन हो जाता है। संत तुकाराम भी अभंगवाणी में अपने छोटी जाति में जन्म लेने के कारण वेदों-शास्त्रों के अध्ययन से वंचित रहने के प्रति दुःख व्यक्त करते हैं

शूद्रवंशी जन्मलो। म्हणुनि दंभे मुकलो।
धोकाया अक्षर। मज नाही अधिकार।
सर्व भावे दीन। तुका म्हणे यातिहीन।

अनु. शूद्रवंश में जन्म लेने के कारण मैं वेद-शास्त्रों का अध्ययन करने से वंचित रहा। मुझे यह अधिकार प्राप्त नहीं है। इस दीनता का कारण हीन जाति ही है।

इस तरह से शूद्र, अस्पृश्य होने का दुःख और वर्णव्यवस्था के प्रति आक्रोश भी कुछ संतों की वाणी में अभिव्यक्त हुआ है।

मध्यकाल के बाद दलितों के प्रश्नों पर और अस्पृश्यता जैसी निघृण प्रथा के विरोध में साहित्य के अन्तर्गत चर्चा 19वीं सदी में प्रारंभ होती है। अंग्रेजी शासन काल में अंग्रेजी शिक्षा के कारण नई चेतना का निर्माण हुआ। चातुर्वर्ण्य समाज व्यवस्था पर आधारित हिन्दू धर्म पुनर्विचार करने लगा। हिन्दू धर्म, हिन्दू संस्कृति और हिन्दू समाज

में स्थित बुराइयों के मूल की खोज करने का प्रयास बालशास्त्री जांभेकर से लेकर महात्मा ज्योतिबा फुले के समय तक अनेक विचारकों ने किया है। 1818 से 1860 तक के काल में इस प्रकार का प्रयास हुआ है। हिन्दू धर्म, हिन्दू संस्कृति और हिन्दू समाज में अस्पृश्यता के इस महाभयंकर प्रथा के बीज कहां हैं, इसकी खोज का प्रयत्न कुछ समाज-सुधारक और प्रगतिशील विचारकों द्वारा हुआ है। 'दर्पण' नाम से प्रसिद्ध होने वाली बालशास्त्री जांभेकर द्वारा सम्पादित पत्रिका के प्रथम अंक में (सन् 16 मार्च 1832) यह चर्चा शुरू हुई कि 'सम्पूर्ण मानवजाति एक होते हुए उनमें जाति के नाम पर भेद क्यों हैं।' 'प्रभाकर' नाम की पत्रिका में एक नेटिव ने यह प्रश्न उठाया था कि अगर अंग्रेज अस्पृश्यों को अपने घर में नौकर रख सकते हैं और छुआ-छूत न मानकर वे उन्हें स्पर्श करते हैं तो सवर्ण हिन्दुओं को ही अस्पृश्यों से नफरत क्यों है, जबकि वे अंग्रेजों तक का आदर-सम्मान करते हैं।' इस तरह की चर्चाओं से यह प्रतीत होता है कि समाज प्रबोधन का कार्य तब शुरू हो गया था। कुछ लोग अस्पृश्यता निवारण के कार्य में संलग्न थे। तुकाराम तात्या पडबल दलित ने 'जातिभेद विवेकसार' नामक पुस्तक में 'विषमता पूर्ण समाज व्यवस्था का कारण दुष्ट जाति भेद ही बताया गया है। लोकहितवादी, महात्मा फुले आदि समाज सुधारकों ने ऊँच-नीच की भावना को मिटाने का प्रयास किया। अस्पृश्यों के लिए सर्वप्रथम शिक्षा के दरवाजे खुले और उन्हें शिक्षा प्राप्ति का अवसर महात्मा ज्योतिबा फुले के प्रयत्नों से प्राप्त हुआ था। शिक्षा के माध्यम से अस्पृश्यों के मन में आत्मविश्वास जगाने का कार्य किया और पारंपरिक रूढ़िवादिता की अपने लेखन द्वारा आलोचना की। 'सत्यधर्म' की स्थापना के लिए उन्होंने सत्यशोधक आंदोलन का प्रारंभ 23-9-1873 में किया था। इस आंदोलन की प्रेरणा से प्रेरित होकर गोपाल बुवा कृष्णा बलंगकर ने 1896 में सेना से अवकाश प्राप्त होने के बाद 'अनार्यदोष परिहार' नामक संस्था की स्थापना की और 'बिटालविध्वंसक' (अस्पृश्यता विध्वंसन) नाम की पत्रिका का सम्पादन किया। शिवराम जानवा कांबले द्वारा 'सोमवंशी मित्र' पत्रिका का प्रकाशन किया गया। इन सभी पत्रिकाओं के माध्यम से अस्पृश्य समाज को जागृत करने और उन्हें अपने खोये हुए स्वाभिमान और अस्मिता को फिर से प्राप्त करने की प्रेरणा प्राप्त हुई।

पत्र-पत्रिकाओं द्वारा इस तरह दलित समाज में चेतना जगाने के प्रयत्न हो रहे थे। 'सामाजिक स्तर पर भी कुछ सुधारकों की तरफ से प्रयत्न जारी थे जिसमें प्रमुख रूप से प्रयत्न करने वालों में महर्षि विट्ठल रामजी शिंदे थे। उन्होंने 'अखिल भारतीय डिप्रेस्ड क्लास मिशन' की स्थापना कर इसे मिशन द्वारा अस्पृश्यों के प्रश्नों की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित किया। उधर राजर्षि शाहू महाराज ने अपने कोल्हापुर संस्थान में अपनी राजसत्ता के काल में अस्पृश्यता निवारण कार्य को धर्म जैसा महत्व देकर अनेक कानून जारी किए। अखिल भारतीय बहिष्कृत समाज परिषद् के (नागपुर

में 30 मई 1920 को हुए) सम्मेलन के अध्यक्ष पद से भाषण करते हुए उन्होंने कहा था 'तुम अस्पृश्य नहीं हो, तुम्हें अस्पृश्य मानने वाले लोगों से तुम अधिक बुद्धिमान, पराक्रमी स्वाभिमानी हो। और हिन्दी राष्ट्र की इकाई हो।'

सन् 1920 तक समाज में इस तरह की चेतना जगाने के प्रयत्न निरंतर हो रहे थे कि दलित भी मानव है, मानव होने के नाते मानव अधिकार को प्राप्त करने का उसे अधिकार है। जाति-पाति और ऊंच-नीच के भेद-भाव को नष्ट करने पर जोर दिया जा रहा था। इन विचारों का प्रभाव तत्कालीन मराठी के कुछ लेखकों की कृतियों में यदा-कदा देखने को मिलता है।

मराठी दलित साहित्य को सबसे मूल्यगर्भ और विद्रोही स्वर की अभिव्यक्ति दलित कविता में हुई है। विशुद्ध दलित जीवनानुभवों की अत्यन्त प्रामाणिकता से रचनात्मक स्तर पर अभिव्यक्त करती इस दलित कविता ने सम्पूर्ण मराठी साहित्य क्षेत्र को नया आयाम दिया है। सदियों से जिन सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक रूढ़ि-परम्पराओं और उससे निम्न मानसिकता ने दलितों को अपमान, अवहेलना, प्रताड़ना, द्वेष और घृणा को झेलने के लिए मजबूर किया और उनके जीवन को वेदना, पीड़ा, दुःखों से भर दिया। ऐसे समाज, धर्म और संस्कृति को नकारकर दलित कविता ने इसका निषेध करते हुए अपना स्वर तीव्रतम रखा है। उच्च वर्गीय होने के अपने अहंकार को कायम रखने के लिए प्रस्थापितों ने स्वार्थ हेतु एक दूसरे मानव को हीन माना, उसे अपने से दूर, अहाते से दूर रखा। उसका सदियों तक शोषण करके अपने महले दो महले मकान बनाए लेकिन दलितों को मानवाधिकारों से वंचित करके अभावपूर्ण जीवन जीने के लिए रेगिस्तान में तड़पता छोड़ दिया। एक मनुष्य दूसरे के प्रति कितना अधिक असंवेदनशील हो सकता है इसकी यह मिसाल है। एक जैसे दिखने वाले इन्सानों में केवल जन्म आधार पर वह भी अभिव्यक्ति रचनात्मक स्तर पर कर रहे हैं। जिसका प्रथम प्रस्फुटन काव्य के माध्यम से होना स्वाभाविक ही है। मराठी दलित साहित्य मराठी साहित्य क्षेत्र में परिवर्तन की मांग को लेकर प्रस्तुत हुआ है। स्वतंत्रता, समानता और न्याय पर आधारित समाज की स्थापना का स्वप्न वह साकार करना चाहता है। जिसमें प्रत्येक मनुष्य की अस्मिता का आदर किया जाए उसके अस्तित्व को नकारा न जा सकेगा और मान-सम्मान का वह हकदार होगा। इसकी विचारधारा और उनकी प्रेरणा का स्रोत है डॉ. बाबा साहेब अम्बेदकर द्वारा चलाया गया दलित मुक्ति आन्दोलन। दलित साहित्य की प्रेरणा का दलित मुक्ति आंदोलन न केवल स्रोत है बल्कि ऊर्जा का असीम भण्डार भी है। हमें सर्वप्रथम दलित मुक्ति आंदोलन और दलित साहित्य आन्दोलन के अन्तःसंबंध को समझना आवश्यक है।

डॉ. बाबा साहेब अम्बेदकर ने मानवाधिकारों से वंचित दलितों को उनके अधिकार प्राप्त हों, इसलिए दलित मुक्ति आंदोलन का सूत्रपात किया था। जिसके

अंतर्गत दलितों को एक मानव होने के नाते तमाम जलस्रोतों पर उसके अधिकार, उसके मन की श्रद्धाओं की अभिव्यक्ति हेतु मंदिरों में प्रवेश आदि मूलभूत अधिकारों की मांग की थी। हिन्दू धर्म प्रणीत जातिव्यवस्था ने धर्म और शास्त्रों के आधार पर दलितों को अधिकारों से सदियों से वंचित कर रखा था। जिसे जन्म और कर्म सिद्धान्त का आधार देकर, सदियों तक दलितों के मन में निम्न जाति में जन्म के लिए स्वयं कर्म ही जिम्मेदारी है कि यह कुंठा जगाए रखकर अपनी स्वार्थसिद्धि में प्रस्थापित वर्ग कामयाब हो गया था। बाबा साहेब ने सन् 1927 से 1930 तक लगातार दलितों के बुनियादी अधिकारों के लिए संघर्ष किया। हजारों की संख्या में दलित स्त्री-पुरुषों ने इस आन्दोलन में हिस्सा लेकर अपने अस्तित्व और अस्मिता के लिए संघर्ष किया।

महाड़ का यवदार तालाब का सत्याग्रह, नासिक का कालाराम मन्दिर प्रवेश सत्याग्रह, इतिहास प्रसिद्ध घटनाएं बन चुकी हैं। इसी संघर्ष की कड़ी में एक और घटना को जोड़ना आवश्यक है। और वह है महाड़ में 'मनुस्मृति का दहन'। मनुस्मृति को अपनी आचार संहिता मानने वाले हिन्दू धर्म ने मानव को उसके मानव के स्तर से हटाकर पद दलित बनाकर सदियों तक उसका शोषण किया। प्राकृतिक जल स्रोतों पर अपना अधिकार जमाकर उसे पानी के बिना प्यासा तड़पता रहने के लिए मजबूर किया। उसके प्रवेश से, अथवा उसकी छाया पड़ने मात्र से अपवित्र होने की मनगढ़ंत रीति के चलते मन्दिर प्रवेश निषेध किया। अपने वर्चस्व को बनाये रखने लिए दलितों को गले में मिट्टी का बर्तन और पीठ पीछे झाड़ू लटकाने के लिए मजबूर किया। उसके स्पर्श से अपवित्र होने की मिथ्या कल्पना के कारण उसे बहिष्कृत बनाकर रखा। ऐसे धर्म की आचार संहिता मनुस्मृति का सार्वजनिक रूप से दहन कर बाबा साहेब अम्बेदकर ने हिन्दू धर्मजनित जातिव्यवस्था, उसकी रूढ़ि-रीतियों, बन्धनों को नकारने, उसे तोड़ने का जोरदार संघर्ष किया, जिसने दलितों में अस्मिता को जगाया। अपने अस्तित्व के प्रति वह सचेत होकर छीने हुए अधिकारों को हासिल करने के लिए प्रज्वलित हो उठा। इस आन्दोलन के ही परिणामस्वरूप दलितों की सोच में अंतर्बाह्य परिवर्तन होना शुरू हुआ था। शिक्षा के महत्व को समझने से शिक्षित होने की धुन उनमें दिखाई देने लगी जिसके कारण आज पूरी एक शिक्षित पीढ़ी अपने अस्तित्व के प्रति सचेत होकर बाबा साहेब के सपने को साकार करने के लिए संघर्षरत है। सामाजिक और आर्थिक विषमता के कारणों को जानने की इसमें जिज्ञासा बढ़ी है जिससे इस नई दलित पीढ़ी के मन में क्रांति का बीजारोपण हुआ। स्वतंत्रता के बाद भी दलितों की स्थिति में कोई परिवर्तन होता न देख कर यह युवा शिक्षित पीढ़ी भयंकर सन्ताप और क्रोध से भर उठी। स्वतंत्रता, समानता, न्याय पर आधारित समाज के निर्माण का जो स्वप्न बाबा साहेब अम्बेदकर ने देखा और जिसके लिए उन्होंने जीवन भर प्रयास किया था, उसे पूरा करने के लिए यह युवा पीढ़ी अपने-आपको

प्रतिबद्ध मानती है। बाबा साहेब अम्बेदकर के प्रेरक व्यक्तित्व, कृतित्व और चिन्तन से, बौद्ध दर्शन, महात्मा फुले के सामाजिक सुधारवादी आंदोलन से प्रेरित होकर दलित युवा पीढ़ी सामाजिक परिवर्तन की आकांक्षा और आशा से अंतर्बाह्य चेत गयी है। मुक्तिकांक्षी सामाजिक क्रांति के आन्दोलन को अपना कहा जा सके ऐसा साहित्यिक मंच मिला जिससे उन्मुक्त होकर निडरता से बेबाक भाषा को अपना कर दलित युवा पीढ़ी साहित्य सृजन में जुट गई। दलित कवि, लेखकों का उद्देश्य केवल काव्य सर्जन नहीं है बल्कि उसके माध्यम से वे क्रांति लाना चाहते हैं। यही कारण है कि दलित कविता दलित जीवन की गहन वेदना को अभिव्यक्त करते हुए अपने लिए एक ऐसे समाज को गढ़ना चाहती है, जिसमें आपसी भेदभाव न हो, प्रत्येक अपनी स्वतंत्रता को महसूस कर सके, आपसी भाईचारा हों, न्याय मिले, मानवता के बहुमूल्य तत्वों को सभी अपनाकर नई जीवन प्रणाली का निर्माण करें।

सामाजिक और सांस्कृतिक विद्रोह

मराठी की 'दलित कविता' समाज की वेदना की साहित्यिक अभिव्यक्ति है। वह उस समाज के प्रति अपना विद्रोह प्रकट कर रही है जिसने मनुष्य को मनुष्य जैसा जीवन जीने से वंचित किया और जिसने उसकी जिन्दगी को अन्याय, अपमान, अत्याचार, बेबसी, लाचारी, गरीबी और गुलामी का पर्याय बना दिया था। अतः दलित कविता इस विषमपूर्ण समाज व्यवस्था, जाति व्यवस्था, वर्ण व्यवस्था के प्रति विद्रोह प्रकट करती है। मनुष्य को तुच्छ समझने वाली परम्परावादी शक्तियों के खिलाफ वह संघर्षरत है। मानव जीवन को वह व्यर्थ न समझ, मानव की महानता को स्वीकार करती है। बाबा साहेब अम्बेदकर के विचारधन को आत्मसात् कर दलित समाज में आत्मसम्मान, आत्मबल, आत्मविश्वास, पैदा करने का महत्वपूर्ण कार्य मराठी में दलित जनकवियों ने किया। जनकवि किसन फागू बनसोडे की एक कविता प्रस्तुत है :

जगतात कोठे ना ही/तो भेद येथ पाही/
जन्माने वर्ण ठखी, हा हिन्द देश माझा/भटास उंच पदवी
इतरास नीच रखी/धर्मात ठेवी यादवी, हा हिन्द देश माझा
मनुजास पशूहन मानी जो येथे ही/तोच आर्यावर्त जाणा,
हा हिन्द देश माझा

अनुवाद

विश्व में कहीं नहीं/ऐसा भेद भाव यहां देखो।
जन्म से ही निश्चित होता/जहां जाति और वर्ण
यही है वह हिन्द देश मेरा
उच्च पद पर ब्राह्मण है/निम्न पद पर अन्य सभी

आपस में लड़वाएं धर्म/यह हिन्द देश मेरा
मनुष्य पशु से हीन/इन्होंने है बनाया
क्या यही है आर्यावर्त?/यह हिन्द देश मेरा

(किसन फागू बनसोड : अस्मिताश। 25)

सामाजिक रूढ़ियों का विरोध करने वाले मराठी कवियों में किसन फागू बनसोड, शाहीर हेगड़े, वामन राव कंडक, दीन बंधु शेगावकर, ना.रा.शेडे, मधु कोसारे आदि कवि उल्लेखनीय हैं। वैसे दलित कविता का नाता मध्यकालीन भक्ति आंदोलन के भक्त कवि संत चोखोमेल से भी जोड़ा जाता है।

दलित कविता के विद्रोह की ज्वाला ही, उसकी सोद्देश्यता एवं जीवन्तता की प्रतीक है। इसी विद्रोह की अभिव्यक्ति नामदेव ढसाल, दया पवार, ज बी. पवार, अर्जुन डांगले, वामन निंबालकर आदि की कविता में हुई है। इनकी कविता में प्रस्फुटित विद्रोही स्वर ने परम्परागत विचारों, रूढ़ियों, धार्मिक आडम्बरों, कट्टर धर्मावलम्बियों के ढकोसलों का पर्दाफाश किया है। इस विद्रोह की ऊर्जा का स्रोत है डॉ. बाबा साहेब अम्बेदकर के विचार और बौद्ध धर्म का दर्शन।

दलित कविता में अभिव्यक्त संघर्ष एक व्यक्ति का दूसरे व्यक्ति से नहीं बल्कि एक समाज का दूसरे समाज से है। इसीलिए 'दलित कविता' घोषणा करती है कि इस कविता का गायक व्यक्ति नहीं समाज है। दलित, शोषित सभा के मन की हलचल इस कविता में हिल्लोल और लय बन जाती है। सामाजिक बदलाव की मांग करने वाली कविता साहित्य के क्षेत्र में भी बदलाव लाना चाहती है क्योंकि यह कविता जीवन की तलहटी में संचित विषमता और सांस्कृतिक भ्रष्टता की जड़ों को हिलाना चाहती है। इस कविता की अभिव्यक्ति मराठी भाषा में होते हुए भी इसका अनुभव क्षेत्र बहुत विशाल है, इसलिए देश के कोने-कोने में हो रहे अत्याचार को यह कविता ध्वनित करती है क्योंकि यह वर्तमान दलित जीवन की कविता है।

दलित कवि अब डॉ. बाबा साहेब अम्बेदकर के विचारों की अग्नि से प्रज्वलित होकर इस जाति प्रणीत समाज व्यवस्था को नष्ट भ्रष्ट करने के लिए प्रतिबद्ध है। नामदेव ढसाल भारतीय समाज व्यवस्था को बदल कर नये समतावादी, समाज की निर्मिति का स्वप्न देख रहे हैं

रक्तात पेटलेल्या अगणित सूर्यानी
किती दिवस सोसायची हो घोर नाकेबंदी?
मरेमयें त राहायचे का असेच युद्धकैदी?
ती पाहा रे ती पाहा, मातीची अस्मिता आभालभर झालीच
माझयाही आत्म्याने झंदाबादची गर्जना केलीय
रक्तात पेटलेल्या अगणित सूर्यानी

आता या शहरा शहराला आग लाबीत चला ।

अनु. मेरे लहू में प्रज्वलित अगणित सूर्याबिंब
कितने दिन सहोगे यह घोर बदीवास
क्या बने रहोगे इस तरह युद्ध कैदी
वह देखो रे देखो मिट्टी की अस्मिता आकाश भर में फैल गई
मेरी आत्मा भी जिन्दाबाद की घोषणा कर बैठी
मेरे रक्त में प्रज्वलित अगणित सूर्यो अब इन
नगरों-नगरों को आग लगाते चलो ।

(नामदेव ढसाल, गोलापिठा, पृ.13)

कवि अपनी अस्मिता को आकाश भर में फैला हुआ देखना चाहता है वह कह रहा है कि इस पुरानी संस्कृति को, जो धर्म के आडम्बर, कर्मकाण्ड से जर्जर हुई है, आओ इससे उपजी इस भ्रष्ट सभ्यता को नष्ट कर एक नई व्यवस्था का निर्माण करें। दया पवार 'तुम्ही प्रकाशाचे पुंजके व्हा' कविता में दलितों का आह्वान करते हैं

तुम्ही प्रकाशाचे पुंजके व्हा
अन् कांतीचा जयजयकार करा ।

अनु. अब हमें ही प्रकाश पुंज होना है ।
और क्रांति का अब जयकार करना है ।

(दया पवार, कोंडावाडा, पृ. 6)

दलित कविता उस सबको नष्ट करने के लिए प्रवृत्त है जो अन्यायपूर्ण, पीड़क और समय के प्रतिकूल है। वह अस्पृश्यता, अन्धविश्वास, कर्मकाण्ड, सामाजिक, धार्मिक विषमता आदि का नाश करने के लिए प्रतिबद्ध है।

दलित कविता का विद्रोह उस मानवनिर्मित जातिव्यवस्था से है, जिसके कठोर बंधनों के कारण अस्पृश्यता का अभिशाप भोगती मानवता एक घूंट पानी के लिए तरसती रही है। धर्म के ठेकेदार और खुद को उच्च समझने वाले पानी के असीम भण्डारों को निजी संपत्ति समझकर अधिकार कर बैठे थे और उनके इस झूठे अधिकार को धर्म ने अपनी सहमति देकर कायम कर दिया था। करोड़ों दलितों को सवर्णों की दया पर निर्भर रहना पड़ता था। इस अन्याय के खिलाफ डॉ. बाबा साहेब अम्बेदकर ने सबसे पहले संघर्ष किया। यही था दलितों के मुक्ति संग्राम का पहला कदम जो महाड़ के यवदार तालाब से उठा था।

जिन धर्मग्रंथों के आधार पर चातुर्वर्ण्य व्यवस्था यहां पर मजबूत की गई है, उन सभी हिन्दू धर्मग्रंथों का दलित कवि निषेध करते हैं। सन् 1956 के युगांतर धर्मपरिवर्तन से दलित समाज अंतःबाह्य रूप से बदल गया है। अब वह नये समाज की रचना का स्वप्न देख रहा है जिसमें ऊंच-नीच का भेद-भाव न हो। वामन

दलित मुक्ति आन्दोलन की संवेदनात्मक अभिव्यक्ति मराठी दलित कविता :: 139

निम्बालकर कहते हैं

मनुच्या वारसदारांनी/अनंत वर्षापासून रचलेत तुम्ही
मातो दगडाचे ढीग आमच्या मेंदूवर/विश्वास ठेवा कदाचित्
हू याच मेंदूतून वाहेर पडतील असंख्य ठिणग्या

अनु. मनु के वंशजो/हजारो वर्षों से रचते रहे
मिट्टी पत्थरों के ढेर हमारे मस्तिष्क/लेकिन विश्वास करो
शायद इन्हीं मस्तिष्कों से फूट पड़ेंगी असंख्य चिनगारियां।
नामदेव ढसाल अपना विद्रोह इन शब्दों में व्यक्त करते हैं
मी तुला शीव्या देतो/तुझ्या ग्रन्थाला शीव्या देतो
तुझ्या पाखंडीपणाला शीव्या देतो/
मी हे सारे काही बोलणार नव्हतोपण माझे हात जागे।

(नामदेव ढसाल, गोलापीठा)

अनु. मैं तुम्हें गालियां देता हूँ
तुम्हारे ग्रंथों को गालियां देता हूँ
तुम्हारी संस्कृति को गालियां देता हूँ
तुम्हारे पाखंडीपन को गालियां देता हूँ
मैं ये सब बोलना नहीं चाहता था
मगर मेरे हाथ जागृत हो गए हैं।

जिस भारतीय संस्कृति पर हिन्दुओं को अभिमान है, विश्व में जिस भारतीय संस्कृति की श्रेष्ठता का बोलबाला है लेकिन उसके ऊपरी मुखौटे को हटाने पर उसका वास्तविक धिनौना रूप सामने आता है, उसे दलित कवियों ने उसके उसी रूप को उघाड़ा। क्या धिनौनी, बदशक्ल संस्कृति के प्रति दलितों को अभिमान हो सकता है जिसने उसके मनुष्यत्व का अपमान करके उसे नकारा है? ऐसी संस्कृति पर वह गालियों की बौछार न करे तो क्या उसके स्तुतिगीत लिखे? इस स्थिति तक दलित कवि क्यों पहुंचा है? संस्कृति का गुणगान करने वाली कविता वह क्यों नहीं रचता है? इन सभी प्रश्नों का उत्तर उसकी कविता में निहित है। दया पवार इस सांस्कृतिक द्वन्द्व को मिटाने के लिए अपनी कविता की बलि देने को तैयार हैं। 'मरण' शीर्षक कविता में ये कहते हैं

मागील पाणी गढूल आले/पुढच्या पाण्यांन किती जपावं
हां-हां म्हणता वणवा आला/एका झाडान किती टकरावं
सणापता गोलया चालून आल्या/पखानं आभाल किती ढोलाब
धारदार सलुयांच्या दरवाज्याला/हती जैसे चिपा होतात
तसे आपण हसत-हसत मारवं।

अनु. पिछला पानी दूषित था/अगला कैसे जतन करें
 देखते-देखते दावानल आया/अकेला वृक्ष कब तक टकराएं
 सनसनाती आई गोलियां/आकाश में पंख डोलाएं
 तीक्ष्ण कील शीर्षो वाले दरवाजे पर/हाथी जैसे चिपटे होते
 क्या वैसे ही हम हँसते-हँसते मरें (दया पवर, कोंडवाड़ा, पृ. 19)

इस कविता में नव प्रभात के प्रति आशान्वित मन की अभिव्यक्ति है, एक आत्मविश्वास है, मूल्यविषयक बोध है और पोथी पुराणों में सड़ती हुई संस्कृति के प्रति आक्रोश भी है। इस जर्जर संस्कृति के बोझ को फेंक कर ये क्रांति की राह चलने को तैयार हैं। अर्जुन डांगले भी इसी प्रकार व्यथित होकर उच्च भू-संस्कृति के ठेकेदारों को सचेत कर रहे हैं।

‘आमच्या व्यथांचा जथा सपाट मैदानावर। अन देणार आहे, देणार आहे टक्कर या संस्कृतिच्या जुनाट बुरूजावर। कदाचित नाही पडणार खिंडार होईल रक्तवंबाल। राहीज फक्त वेदनाच माथी। सज्जन हो। फिकिर नाही। आम्हाला त्याची। जगू शकतो घेउन हा बेदनाचा भार। कारण आम्ही युगा-युगाचे??? बुलबुलेदार।

अनु. हमारी व्याधाओं का जथा सपाट मैदान पर
 दो टक्कर इस संस्कृति के पुराने खण्डहरों पर
 शायद न ढह पाए खण्डहर/होंगे रक्तस्नात
 रहेगी सिर्फ वेदना/सज्जनो, फिकर नहीं हमें उसकी
 जी सकते हैं लेकर वेदनाओं का भार
 क्योंकि हम युग-युग से दुःख के हैं भागीदार
 (अर्जुन डांगले, ‘छावणी हलते आहे’)

दलित कवि के मन में यह विक्षोभ इसलिए है कि इस व्यवस्था ने मनुष्य के रूप में उसे कभी अपनाया नहीं बल्कि हमेशा उसे दूर रखा। उसके अधिकारों को छल से छीन कर, दरिद्रता, अपमान, दास्य, अस्पृश्यता, वेदना, अन्याय आदि से भरे रेगिस्तान में प्यासा छोड़ दिया। इसलिए दलित कविता हिंदू धर्म के मूल आधार पर आघात करती है। यह उन लोगों की कविता है जो अपने अंधकारमय अतीत का बोझ ढो रहे थे लेकिन अब दलित अपने और अपने समय का अपमान बर्दाश्त नहीं कर सकता और न ही अन्याय, अत्याचारों को सह सकता है। वह वर्तमान की चुनौतियों को स्वीकार करते हुए अपने उज्ज्वल और सम्मानपूर्ण जीवन के सपने देखता है। वह पूरी व्यवस्था को परिवर्तित करने वाली सम्यक् क्रांति का उद्घोषक है।

जब कोई भी लेखक किसी वर्ग से या समूह से उभरता है तब वह उस वर्ग या समूह के राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और बौद्धिक (वैचारिक) योग्यता को विरासत में पाता है। वह अपने मन पर पड़ने वाले संस्कार और संवेदना को ही अपने

लेखन के द्वारा व्यक्त करता है। जिस प्रकार राजनीति वर्ग सापेक्ष होती है, उसी प्रकार साहित्य भी होता है जिसमें राजनीति से लेकर जीवन के सभी अंगों का समावेश होता है। दलित समाज की जो सामाजिक और आर्थिक स्थिति तथा सांस्कृतिक स्थिति है, वही दलित साहित्य में प्रकट होकर मराठी साहित्य की तथाकथित प्रगतिशील धारा उसे अलग बनाती है। इस विशिष्टता के कारण दलित साहित्य, दलित समाज को उन्नति की ओर ले जाने वाले एक मार्गदर्शक का कार्य भी करता है। मराठी समाज में सामाजिक परिवर्तन की दृष्टि से जो उदासीनता दिखाई देती है, उसे तोड़ने का कार्य दलित साहित्य का विद्रोही आंदोलन ही कर सकता था। ऐसा लगता है आगरकर, महात्मा फुले, बाबा साहेब अम्बेदकर आदि की विचार संपदा को मराठी समाज भूल गया है। गली-गली में उद्वण्ड राजनीतिक नेता घूम रहे हैं। वर्तमान राजनीति ने सांस्कृतिक जीवन के सभी अंगों को भी विषाक्त कर दिया है। इस परिस्थिति में भी दलित साहित्य आन्दोलन टिमटिमाते नक्षत्र जैसी अपनी रोशनी से वर्तमान के अंधेरे को दूर करना चाहता है। स्वयं इस आंदोलन का नेतृत्व अस्थिर और बिखरा हुआ है जिस राजनीतिक दल की स्थापना दलित मुक्ति आन्दोलन को आगे बढ़ाने के लिए की गई थी वह स्वयं नेताओं के व्यक्तिगत स्वार्थ में गोते लेने लगी है जिसका प्रभाव दलित साहित्य आन्दोलन पर भी पड़ा है।

सरकू लागलेत लोकहितवादी स्वहितवादाकडे
सांजकल त्या सूर्यासारखे। लोकशाहीपोटी
वाढणारी समता। समाजवादी अपत्ये विरधलली जातहित।
अनैतिक सम्बन्धातून राहिलेल्या पिंडासारखा गर्भपात होत असताना
लोकशाही। अश्रु ढालतेय

अनु. लोकहितवादी सरक रहे हैं स्वहित की ओर
सांझ के डूबते सूरज की तरह
लोकतंत्र के खातिर बढ़ती समता
समाजवादी पिट्टू पिघले जा रहे हैं
अनैतिक सम्बन्धों से निर्मित पिंड की तरह
गर्भपात होते समय लोकतंत्र आंसू बहा रहा है। (बलवंत कांबले)

निकृष्ट और ढोंगी नेताओं का नेतृत्व देश की बागडोर संभालने में असमर्थ है। इनकी स्वार्थी वृत्ति के कारण देश अधोगति की ओर जा रहा है। कवि इन नेताओं की नेतागिरी की पोल खोल रहा है।

तुरूंगाची हवा यानी चाखलीय म्हणे? केवडा पराक्रम
फियाटमधील गुलजार मंत्र्यासारखे यांचे हेच का भांडवल?
भुभु: कार करीत घोषणाचार नुस्ता धुराला उडवतात

उंचा बलेल्या शेषटया लाचारीने बलवलतात ।

अनु. जेल की हवा इन्होंने खाई है ।

फियट कार में घूमते गुलजार मंत्रियों की तरह,
इनकी यही है पूजा ।

भौंकते घोषणाओं की केवल धूल उड़ते

क्रांति गले तक आते ही सचिवालय के दरवाजे पर

उठी हुई पूंछ लाचारी से हिलाते । (दया पवार : कोंडवाडा)

नामदेव ढसाल स्वतंत्रता के अर्थ को जानना चाहते हैं । अपनी कविता 'निमित्त 15 अगस्त 71', में वे दलित समाज की वेदना को व्यक्त करते हैं । वे स्वतंत्र भारत में स्वतंत्रता का अर्थ क्या होता है इसे नहीं जानते ।

15 अगस्त एक संशयास्पद महाकाय भगोष्ट, स्वातंत्र्य कुठल्या गाढवीच नाव आहे ।

रामराज्याच्या कितव्या घरात आपण रहातीत ।

उद्गम, विकास, उंची, संस्कार कंचा मूलभूत अर्थ स्वातंत्र्याचा ।

अनु. स्वतंत्रता किसी गदही का नाम है

रामराज्य के कौन से घर में हम रहते हैं?

उद्गम, विकास, ऊंचे संस्कार, संस्कृति कौन सा

मूलभूत अर्थ स्वतंत्रता का । (नामदेव ढसाल)

चूंकि दलित कविता दलित जीवन के यथार्थ की कविता है, उसने दलित जीवन के हर क्षण, हर पीड़ा, हर एक वेदना और क्रांतिगर्भ संवेदना को साकार किया है । दलित कवि के सामने भावावेग में बहने के अनेक अवसर थे, क्योंकि उसने जीवन की बड़ी धिनौनी तस्वीर देखी है, परन्तु उसकी कविता जीवन वस्तुगत यथार्थ को मूल आधार मानती है । अतः दलित जीवन के अनेक गर्हित तथ्यों की वह यथार्थ व्यंजना करती नजर आती है । दलित कविता केवल वेदना, निषेध, विद्रोह की कविता नहीं है, वह क्रांति का संदेश देने वाली और अन्धकार से प्रकाश की ओर ले जाने वाली एक प्रखर विचारधारा की काव्यात्मक अभिव्यक्ति है ।

